

शिष्यों को पढ़ाया। ब्राह्मण ग्रन्थों का विशाल साहित्य कम से कम एक सहस्र वर्षों की अपेक्षा रखता है। ३००० ई० पू० से २००० ई० पू० तक इसका पल्लवन हुआ और उस समय तक भारतीय धार्मिक इतिहास में कर्मकाण्ड का ही प्रमुख प्रभुत्व रहा। २००० ई० पू० से १००० ई० पू० तक उपनिषदों का काल है। अन्तिम उपनिषदों के समय तक भाषा पूर्णतः लौकिक हो गई थी और वैदिक स्वरादि लुप्त हो गए थे। लगभग यही समय यास्क का है, जो निश्चित रूप से वैदिक और लौकिक संस्कृत के संक्रमण-काल में हुए होंगे। लगभग उव्वीं शती ई० पू० में पाणिनि हुए, जिन्होंने लौकिक संस्कृत को क्रमबद्ध तथा सुसंस्कृत किया। ई० पू० के इन १००० वर्षों में ही विभिन्न कल्पसूत्रों की रचना हुई है। हमें ऐसे दुराग्रहों में नहीं पड़ना चाहिए कि ऋग्वेद की रचना १२०० या १५०० ई० पू० हुई थी इसलिए आर्य जाति इससे कुछ ही पूर्व इधर-उधर विखरी होगी।

‘तुलनात्मक भाषा-विज्ञान’ तथा ‘तुलनात्मक देवशास्त्र’ के आधार पर भारोपीय देवों के जिस स्वरूप की क्षीण झलक हमें प्राप्त होती है, उसका विवेचन आगे के पृष्ठों (खण्ड ३) में किया जाएगा। किन्तु उससे पूर्व हम इन देवों की उत्पत्ति विषयक विभिन्न मत-मतान्तरों का परीक्षण करेंगे (खण्ड २)। भारोपीय आर्यों के धार्मिक विश्वासों का यह चित्रण उनके उच्च मानसिक विकास का पूर्ण परिचायक है और यह एक ऐसी जाति के लिए सर्वथा उपयुक्त भी है जो मनुष्यों को एक ऐसे शब्द से अभिहित करती थी, जिसका अर्थ था ‘चिन्तन करने वाला’। विभिन्न आर्य भाषाओं में ‘मनुष्य’ के लिए प्राप्त अनेक शब्द इसके प्रमाण हैं, उदाहरणार्थ संस्कृत — मनुः गौथिक — मन्त्रा, अंग्रेजी — मैन, जर्मन — मान्, प्रा० बल्गेरियन मा। ये सब शब्द भारोपीय मेन् (*men) = ‘सोचना’ धातु से सम्बन्धित हैं, (सं० मन्यते, मनः तथा ग्रीक — मेनोस् आदि)।

(२)

विभिन्न प्राचीन आर्य धर्मों की तुलना करने से जो सबसे पहला मुख्य परिणाम प्राप्त होता है, वह यह है कि प्राचीन आर्य अपनी संस्कृति अथवा दैनिक जीवन की किसी भी मुख्य धारणा से सम्बन्धित देवों का निर्माण करने में प्रवीण थे। उदाहरण के लिए रोम की प्राचीन कर्मकाण्डीयपुस्तक इन्दिगितामेन्ता में विभिन्न धार्मिक अवसरों के लिए रोमन पुरोहितों द्वारा प्रार्थनाओं का संकलन किया गया है^१, रोमनिवासियों के जीवन के लगभग हर क्षेत्र से सम्बन्धित देवता प्राप्त होते हैं। एक-एक क्षेत्र से भी

^१ प्राचीन रोम के धार्मिक जीवन से सम्बन्धित इस लैटिन पुस्तक के विशेष विवरण के लिए देखिए, एनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ रिलीजन एण्ड ईथिक्स, सप्तम भाग, पृष्ठ २१७-१८। आगे के पृष्ठों में इस विश्वकोश को ए० रि० ई० से संकेतित किया गया है।

भारोपीय काल के उपास्य देवतात्व : उदगम

अनेक देवता सम्बन्धित हैं और उनका विभाग तथा कार्यक्षेत्र सीमित है। उदाहरणार्थ कृषि क्षेत्र में सातुरुस बीजवपन का देवता था, सीरीस अन्न तथा शस्य की वृद्धि की देवी थी और फ्लोरा पृष्ठों की देवी समझी जाती थी। - १८० पृ० १७०

ठीक ऐसी ही प्रवृत्तियाँ लिथुआनियन धर्म में भी पाई जाती हैं। भौगोलिक तथा राजनैतिक दृष्टि से अत्यन्त स्वतन्त्र एवं पृथक् रहने के कारण यह छोटा-सा देश रोमन तथा बाइजेन्टाइन संस्कृति के प्रभाव से असंपृक्त रहा और यहाँ पर विशेष प्रकार का प्रारम्भिक धर्म, जो प्राचीन आर्य धर्म का ही अवशेष था, लगभग १६वीं शती के अन्त तक फलता-फूलता रहा। अतः कुछ विद्वानों का विचार है कि आर्य धर्म के रहस्यों को अनावृत करने में लिथुआनियन धर्म का वही महत्व है, जो सेमेटिक धर्म के लिए अरब की संस्कृति और धर्म का^(१) रोमन धर्म की भाँति इस देश के वासियों ने भी अपने जीवन एवं संस्कृति से सम्बन्धित प्रत्येक महत्वपूर्ण वस्तु के लिए एक देवता की परिकल्पना कर रखी है। इन देवताओं का अधिकार प्रायः उसी क्षेत्र के भीतर रहता है, जिससे उनका जन्म होता है। उदाहरणार्थ पशुपालन से सम्बन्धित कुछ लिथुआनियन देवता इस प्रकार हैं : सुत्वरस् पशुओं का सामान्य अभिरक्षक हैं, गोथा नामक देवी पशुओं की वृद्धि की अधिष्ठात्री है, ज्ञारिक्सउस् पशुओं के भोजन, चारे आदि का व्यवस्थापक है तथा बाउषिस् और रातेनिकज्ञा क्रमशः वृषमों तथा अश्वों के पालक हैं^(२)

(वैदिक धर्म में भी यह प्रवृत्ति क्षीणरूप से विद्यमान है। ऋक् तथा अथर्ववेद में वास्तोष्यति तथा क्षेत्रपति नामक दो देवता प्राप्त होते हैं, जो क्रमशः गृहों तथा खेतों के रक्षक माने गए हैं^(३))

श्रावण का कथन है कि इन देवों में जडात्मवाद (animism) के स्पष्ट संकेत प्राप्त होते हैं। जडात्मवाद प्रारम्भिक धार्मिक विचारधारा का वह पक्ष है जिसके अनुसार अल्पविकसित संस्कृति वाले व्यक्ति प्रत्येक जड़ पदार्थ को सजीव समझते हैं। और यह मानते हैं कि प्रत्येक पदार्थ में एक चेतन आत्मा का वास होता है, जो उस जड़ वस्तु की क्रियाओं पर नियन्त्रण रखता है। प्राचीन आर्यों का विश्वास था कि संसार का प्रत्येक क्षेत्र किसी चेतन तत्त्व से नियन्त्रित है। इसीलिए उन्होंने अपने जीवन के सभी महत्वपूर्ण क्षेत्रों के अधिष्ठाताओं की पृथक्-पृथक् परिकल्पना की और उसे इस विशिष्ट क्षेत्र की सम्पूर्ण क्रियाओं का अधिकारी देवता माना।^(४)

- १. श्रावण, ए० रि० ई०, द्वितीय भाग, 'आर्यन रिलीजन' नामक लेख। पृ० १५ अ-१०
- २. श्रावण, ए० रि० ई०, द्वि० भा० पृ४४ ३० अ ब। १०
- ३. इनके विशेष विवरण के लिए देखिए, कोथ, रिलीजन एण्ड फिलासफी आफ दि वेद एण्ड दि उपनिषद्सः प्रथम भाग पृ० ६३ तथा मैकडॉनल, वैदिक माइथॉलजी, पृ४ १३८।
- ४. देखिए श्रावण : ए० रि० ई०, द्वितीय भाग, आ० रि०, पृ० ३२ अ।

एच० उजेनरने अपनी प्रसिद्ध जर्मन पुस्तक ग्यौटरनामेन् (Götternamen) में इन देवताओं को "जौन्डरग्यौटर" (Sondergötter) या "(विशिष्ट देवता)" की संज्ञा से अभिहित किया। ये विशिष्ट देवता मानव जीवन अथवा प्रकृति के किसी एक विशेष क्षेत्र से सम्बन्धित होते हैं और इनका अधिकार केवल उसी क्षेत्र तक सीमित होता है, उदाहरणार्थ रोमन धर्म में सीरीस अथवा वैदिक धर्म में वास्तोप्पत्ति। अतः यह कहा जा सकता है कि ये देवता केवल मानव जीवन अथवा प्रकृति के उस क्षेत्र के ही सजीव रूप हैं।

उजेनर तथा श्राडर दोनों का ही विचार है कि ऋग्वेद में प्राप्त होने वाले इन्द्र एवं वरुण आदि वैयक्तिक देवता (Personliche Götter) इन विशिष्ट देवताओं के बाद में विकसित हुए हैं। काल की दृष्टि से ये परवर्ती हैं और मुख्यतः इनका उद्भव विशिष्ट देवों से ही हुआ है। वैयक्तिक देवता, जिस क्षेत्र से सम्बन्धित होते हैं उसमें स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं। उनकी क्रियाशीलता या अधिकार 'विशिष्ट देवों' की भाँति केवल उस क्षेत्र विशेष तक ही सीमित नहीं रहता। इनका जन्म अनेक विशिष्ट देवों के व्यक्तित्व तथा कार्य क्षेत्र के मिलने से होता है।

कुछ मुख्य 'विशिष्ट देवता' धीरे-धीरे अधिक शक्तिशाली हो उठते हैं और अन्यान्य तुच्छ देवों के व्यक्तित्व को आत्मसात् करके वे 'वैयक्तिक देवता' बन जाते हैं। उस समय उनका मूल क्षेत्र तथा मूल रूप से सम्बन्ध इतना अधिक हट जाता है कि उसका पता लगाना कठिन हो जाता है। वैदिक इन्द्र तथा वरुण के विषय में भी यही बात है।

श्रोडर के अनुसार 'विशिष्ट देवों' से 'वैयक्तिक देवों' के जन्म की प्रक्रिया अत्यन्त स्वाभाविक तथा सरल है। इसके दो मुख्ये कारण हैं। एक तो यह कि मानव इतिहास में प्रायः महान् व्यक्तित्वों का जन्म होता रहता है। सुमाज में कुछ व्यक्ति धन तथा शक्ति के आधिक्य के कारण प्रभावशाली हो जाते हैं और राजा आदि बन बैठते हैं। ठीक इसी प्रकार जनता के मन में छोटे-छोटे 'विशिष्ट देवों' के स्थान पर महान् अधिक शक्तिशाली एवं अधिक वैयक्तिक विशेषताओं से पूर्ण देवों की धारणा जन्म लेती है।^१

इसके अतिरिक्त इस धार्मिक प्रक्रिया में दूसरा मुख्य कारण यह है कि सभ्यता के विकास के साथ जैसे-जैसे नये-नये विधान, सामाजिक रीतियाँ एवं नियम आदि बनते चले जाते हैं, वैसे-वैसे मनुष्यों की एवं अधिक शक्तिशाली देवों की आवश्यकता प्रतीत होती है और इन सब नियमों के पालनकर्ता तथा अधिष्ठाता माने जा सकें। प्राचीन

१. बॉन् से १८९९ में प्रकाशित।

२. श्राडर : ए० रि० ई०, द्वितीय भाग, आ० रि०, पृ० ३५ ब-३६ अ।

आर्यों के साथ भी ऐसा ही हुआ। पंडिता के विकास के साथ महत्वपूर्ण प्राकृतिक देवता लुप्त होने लगे और उनके स्थान पर इन्द्र, वरुण आदि उच्च देवता उभर आये।

आर्य देवों की उत्पत्ति विषयक उपर्युक्त मत, जो मूल रूप उज्जेनर का है और जिसका बाद में ^१श्रावण ने^२ दुद्धता से समर्थन किया, अनेक विद्वानों की आलोचना का विषय बना है। इसके विरुद्ध पहली आपत्ति तो यह है — उज्जेनर ने अपने मत की प्रस्थापना के लिए जिन स्रोतों का आश्रय लिया है, वे बहुत परवर्ती हैं। लिथुआनियन ①

धर्म का प्राचीनतम प्रामाणिक विवरण १७ वीं शताब्दी के एक ईसाई मिशनरी के लेखों से प्राप्त होता है। यदि हम यह मान भी लें कि जो सूचनाएँ और विवरण उसने दिए हैं, वे यथार्थ तथा पूर्ण सत्य हैं, तो भी यह विश्वास करना कठिन है कि लिथुआनियन धर्म ने सहस्रों वर्ष पूर्व की आर्यों की धार्मिक प्रवृत्तियों को पूर्णतः सुरक्षित रखा है और उनमें न तो कोई परिवर्तन हुआ है, न आगामी विकास। रोमन 'इन्दिगितामेन्ता' का विवरण भी अपेक्षाकृत परवर्ती है। यह धार्मिक ग्रन्थ भारतीय पौराणिक साहित्य का समकालीन है। अतः वेदों से भी पूर्व के प्रागैतिहासिक देवों के स्वरूप एवं धार्मिक प्रवृत्तियों को जानने के लिए इन दोनों ही ग्रन्थों का आधार लेना नितान्त भ्रामक है और इनकी तुलना से जो निष्कर्ष निकले हैं, वे यथार्थ से बहुत दूर हो सकते हैं।

दूसरी बात यह है कि यह मत केवल दो धर्मों के प्रमाणों पर ही आधारित है। ग्रीक, भारतीय, तथा ईरानी धर्मों तथा देवशास्त्रों में इन प्रवृत्तियों के अत्यन्त उपेक्षणीय सूत्र मिलते हैं। वैदिक उपस्, अग्नि, सूर्य तथा वात आदि वैदिक देवता क्रमशः उषा, आग, सूरज तथा वायु आदि पर अधिकार रखने वाले 'विशिष्ट' या 'विभागीय' देवता नहीं, अपितु तत्त्व प्राकृतिक दृश्यों के मानवीकरण मात्र हैं।) 'जडात्मवाद' की प्रक्रिया से निर्मित विशिष्ट देवों का उस वस्तु-विशेष से पृथक् एक स्वतन्त्र चेतन सत्ता के रूप में अस्तित्व होता है और इस प्रवृत्ति का वैदिक देवों में पूर्णतः अभाव है। कवि वैदिक-देवों की धारणा में उस प्राकृतिक दृश्य के भौतिक अथवा दृश्यमान स्वरूप से बहुत ऊपर नहीं उठ पाया है (अवेस्ता) में अवश्य कुछ ऐसे (विशिष्ट) देवता प्राप्त होते हैं,

१. श्रावण, वही।

२. अपनी श्ट्रास्बुर्ग (फ्रांस) से १९०१ में प्रकाशित "रेयाललेक्सिकोन डेज इन्डोगेमानिशेन आल्टरट्रम्सकुंडे" नामक पुस्तक तथा ए० रि० ई० में छपे उपर्युल्लिखित लेख में।

३. (क) तु० की०, विन्टरनिट्स, हिस्ट्री ऑफ़ इंडियन लिटरेचर (अंग्रेजी अनुवाद) प्रथम भाग, पृष्ठ ७५ तथा आगे।

ये सूक्त हमारे लिए इसलिए और भी महत्वपूर्ण है कि इनमें हम देवकथाओं को अपने सामने ही बनते हुए देखते हैं। देवता हमारी आँखों के ही सामने उत्पन्न होते हैं। ऋग्वेद में बहुत से सूक्त सूर्य के देवता अथवा उषा की देवी के प्रति नहीं अपितु स्वतः देदीप्यमान सूर्य अथवा प्रकाशमती उषा के प्रति ही कहे गए हैं ऐसे अनेक प्राकृतिक

किन्तु क्योंकि यह ईरानी ग्रन्थ ऋग्वेद से बहुत परवर्ती है, अतः यह तथ्य श्रावण के मत के विरोध में ही अधिक प्रमाणित करता है। ऋग्वेद में ऐसे देवों का कोई अस्तित्व न होने से अधिक सम्भव यही प्रतीत होता है कि यह प्रवृत्ति परवर्ती ईरानी विकास है।

इसके अतिरिक्त श्रावण ने इन विशिष्ट देवताओं की उत्पत्ति का कारण जडात्मवाद को माना है। धार्मिक अथवा अन्य किसी भी दृष्टि से महत्त्वपूर्ण वस्तु में उस वस्तु से पृथक् एक चेतन सत्ता के दर्शन करने की प्रवृत्ति जडात्मवाद है। पर जैसा कि देशमुख का कथन है— इन रोमन तथा लिथुआनियन देवों में जडात्मवाद का लेश भी नहीं है। ये देवता केवल तत्त्व वस्तुओं अथवा क्रियाओं के मानवीकरण मात्र हैं। इन देवों में वस्तुओं से पृथक् कोई चेतन सत्ता स्वीकार नहीं की गई और जब जडात्मवाद किसी देवता की उत्पत्ति का कारण होता है तो वह इसी चेतन शक्ति के कारण ही, वस्तु के कारण नहीं।

वस्तुतः श्रावण^३ तथा फ्रेजर^४ आदि विद्वानों की भाँति या भारोपीय काल के देवों को अनेक तुच्छ तथा छोटे-छोटे देवताओं से विकसित मानने की अपेक्षा यह धारणा अधिक तर्कसंगत और तथ्य के समीप है कि आर्य देवता प्रारम्भ में प्रकृति के किसी एक महान् तथा महत्त्वपूर्ण के दृश्य मानवीकरण थे किन्तु जैसे-जैसे समय बीतता गया इन देवों का व्यक्तित्व बिखरने लगा और वे अनेक देवों में बँट गए। इसकी पुष्टि इस तथ्य से होती है कि भारोपीय काल में आकाश के प्रत्येक दृश्य से सम्बन्धित द्येउस् (Dyeus) नामक केवल एक देवता था किन्तु ऋग्वेद के समय तक आते-आते इस देवता का महनीय व्यक्तित्व क्षीण पड़ गया और यह सूर्य, विष्णु, सवित्र तथा मित्र आदि प्रकाश से सम्बन्धित अनेक छोटे-छोटे देवताओं में विभक्त हो गया और आगे

दृश्यों की स्तुति, पूजा एवं आह्वान यहाँ प्राप्त होता है। ऋग्वेद में धीरे-धीरे हम इन प्राकृतिक दृश्यों से धार्मिक व्यक्तित्वों की रचना होते हुए देखते हैं।

(ख) उपसू, सूर्य आदि के विषय में इस मत के विरोध के लिए देखिए ग्रिसबोल्डः रिलीजन ऑफ़ दि ऋग्वेद, पृ० ८१ तथा आगे, इनके अनुसार ये विशिष्ट देवता ही हैं।

१. देखिए, पौ० एस० देशमुख, ओरिजिन एण्ड डेवलपमेन्ट ऑफ़ रिलीजन इन वैदिक लिटरेचर, आक्सफोर्ड, पृ० १२५, पादटिप्पणी।

२. ओरिजिन० पृ०, १२६।

३. ए० रिं० ई० के पूर्वोल्लिखित के अतिरिक्त 'रियाललेक्सिकोन डेजर इण्डोगर्मानिशन आल्टरटुम्सकुंडे' में प्रतिपादित।

४. फ्रेजर का मत है कि भारोपीय आर्यों की दृष्टि में सुषुप्ति असंख्य चेतन आत्माओं से व्याप्त थी और वे प्रत्येक वृक्ष, नदी, निझर, पर्वतशिला तथा वायु के प्रत्येक झोंके में किसी अदृश्य चेतन शक्ति दर्शन करते थे। बहुत धीरे-धीरे उन्होंने सम्पूर्ण वन, जल या वायु पर अधिकार रखने वाले महत्तर देवों की कल्पना की। ये विचार उनकी वर्षीय ऑफ़ नेचर (लन्दन, १९२६) पुस्तक में प्रतिपादित हैं।

१९२६

भारोपीय काल के उपास्य देवतत्व : उदगम

चल कर इन देवों ने इतना महत्त्वपूर्ण रूप धारण किया कि उनका जनक वैदिक द्यौस्
वैदिक देवमण्डल से पूर्णतः विलुप्त हो गया।

✓ ५ वस्तुतः 'विशिष्ट' अथवा 'विभागीय' देवताओं की पृष्ठभूमि में जो धार्मिक भावना है, वह ऋग्वेद में प्राप्त प्रकृति के महान् देवों से सम्बन्धित मानसिक भावना से पूर्णतः पृथक् है। प्रकृति के महान् देवता पूजक को अपनी उच्चता तथा महनीयता से प्रभावित करके उसके हृदय में आदर एवं भय उत्पन्न करते हैं। किन्तु 'विशिष्ट देवता' केवल इस सामान्य भावना के परिणाम होते हैं कि संसार की प्रत्येक वस्तु एक चेतन सत्ता से युक्त है। 'विशिष्ट देवता' सामान्य जन के आदर या पूजा के विषय नहीं होते। यह दूसरी बात है कि कभी कोई अपने किसी कार्य-विशेष की सिद्धि के लिए उनकी पूजा करने लगे।^१ दोनों की प्रकृति के बीच एक विस्तृत खाई है और इसलिए एक-दूसरे का कारण नहीं बन सकता। सूर्य तथा आकाश आदि से सम्बन्धित आदरोत्पादक महान् दृश्यों की पूजा वास्तोष्पति तथा क्षेत्रपति आदि देवों से निश्चित रूप से प्राचीन है, जो स्थिर जीवन एवं कृषि से सम्बन्धित है।^२ कीथ का अनुमान है कि ऐसे छोटे-मोटे देवता बाद में पुरोहितों द्वारा निर्मित कर लिए गए हैं क्योंकि वे धार्मिक वस्तुओं को एक विशेष पवित्रता की दृष्टि से देखते हैं। इस प्रकार उनकी उत्पत्ति प्रकृति की उपासना से सम्बन्धित धर्म से ही जडात्मवाद के प्रभाव के अन्तर्गत हुई है।^३

✓ ६ रोमन इन्दिगितामेन्ता तथा लिथुआनियन धर्म में प्राप्य देवों की उत्पत्ति का कारण भी दैनिक अथवा धार्मिक जीवन की उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण वस्तुओं को पवित्र समझने का मानव स्वभाव है। वैदिक युग में यज्ञ के उपकरणों के प्रति प्राप्त होने वाला समादर तथा गाय की विशेष पूजा इसका प्रमाण है।

✓ ७ ६ आर्यों की प्राचीनतम साहित्यिक कृति ऋग्वेद को देखते हुए आर्यों के प्राचीन देवों की उत्पत्ति में 'जडचेतनावाद' (Animatism) का सिद्धान्त अधिक काम करता हुआ दिखाई देता है। जडात्मवाद से वैदिक देवों की उत्पत्ति की सन्तोषजनक व्याख्या नहीं की जा सकती। जडचेतनावाद बौद्धिक दृष्टि से कुछ अल्प विकसित मनुष्यों की उस धार्मिक भावना को कहते हैं, जिसके अनुसार वे समझते हैं कि जड-जगत् की प्रत्येक महत्त्वपूर्ण वस्तु चेतन प्राणी की भाँति सोचने, समझने और अनुभव करने की शक्ति रखती है। जडचेतनावाद में विश्वास रखने वाले प्रायः यह समझते हैं कि ऐसी जड वस्तुओं में अतिमानवीय शक्ति का निवास होता है, जिससे उनकी उपासना अथवा आदर करना चाहिए। जब किसी जड वस्तु की इस प्रकार की उपासना की जाए मानो

✓ १. तु० की०, कास्नाय : ले जैंदो-ओरोपियां (Les Indo-Europeans), पृ० २०९ तथा आगे।

✓ २. कीथ : रिलीजन० प्रथम भाग, पृ० ६४, ६५।

✓ ३. वही, पृ० ४५

उसमें किसी पृथक् चेतना शक्ति या आत्मा का निवास है तो इसे जडात्मवाद कहते हैं और जब स्वयं उस वस्तु को ही चेतना मान कर उसका उपासन किया जाए तो इस धार्मिक भावना को जडचेतनावाद कहा जाता है। जडचेतनावाद की यही भावना अधिकांश वैदिक देवों के ही नहीं अपितु भारोपीय देवों के भी मूल में पाई जाती है और यह पूर्णतः निःसंशय है कि आर्यों के प्राचीन देवता प्रकृति के ही विभिन्न दृश्यों के मानवीकरण मात्र थे। प्रकृति के इन प्रभावशाली दृश्यों में प्राचीन आर्यों को किसी महान् रहस्यमयी शक्ति के दर्शन होते थे और वे इन शक्तियों को मनुष्यों से घनिष्ठतया सम्बन्धित समझते थे। मनुष्य के सौभाग्य तथा दुर्भाग्य की भी ये कारण मानी जाती थीं और अपनी कृतज्ञता की भावना को व्यक्त करने के लिए तथा अंशतः उनकी महत्ता से प्रभावित होकर अथवा भय के कारण, वे उनकी स्तुति एवं प्रसान्नत्वन आवश्यक समझते थे। जडचेतनावाद की प्रक्रिया वेदों में इतनी अधिक स्पष्ट है कि देवताओं के व्यक्तिगत नाम प्रायः वे ही हैं, जिनसे उनके भौतिक स्वरूप का बोध होता है। अग्नि आग भी है और अग्नि से सम्बन्धित दैवी शक्ति भी। द्यौः शब्द आकाश को भी सूचित करता है और आकाश के देवता को भी। उपस् प्रातःकाल भी है और इसकी अधिष्ठात्री देवी भी।

आर्यों के धार्मिक इतिहास में जडचेतनावाद एक ऐसी प्रक्रिया है जिस पर केवल आर्य देवताओं का ही उद्गम नहीं अपितु विशिष्ट देवताओं की भी उत्पत्ति और साथ ही स्वयं जडात्मवाद भी आधारित है। जडचेतनावाद के प्रारम्भ में तत्त्वों की ही चेतनरूप में उपासना की जाती है किन्तु धीरे-धीरे वह चेतना सत्ता वस्तु से पृथक् होने लगती है और कुछ समय पश्चात् एक स्वतन्त्र अस्तित्व धारण कर लेती है। पर ऐसी दशा में भी वह अपनी मूल वस्तु या तत्त्व से किसी रूप में सम्बन्धित रहती है और यह स्थिति जडात्मवाद को जन्म देती है। यदि भारोपीय काल के देवों में जडचेतनावाद पर आधारित प्राकृतिक तत्त्वों की इस आधारभूत समानता को स्वीकार न किया जाए तो इन देवों के विभिन्न देशों एवं जातियों में पाए जाने वाले स्वरूपगत साम्य तथा समान विकास की व्याख्या करना कठिन होगा।

✓ कीथ का भी यही विचार है कि आर्यों के प्राचीन धर्म का आरम्भ प्रकृति के इन्हीं महान् दृश्यों की देवरूप में उपासना से हुआ और धीरे-धीरे जब उनमें अमूर्त धारणाओं पर आधारित देवताओं की परिकल्पना करने की क्षमता विकसित हुई तो 'उत्तुद' तथा 'निवर्तन' जैसे विभागीय या विशिष्ट देवों की कल्पना की गई। प्रतीत होता है कि

✓ देखिए, रिलीजन० प्रथम भाग, पृ० ६५।

उत्तुद एवं निवर्तन क्रमशः ३० वे० ३। २। ५१ तथा ४० वे० १०। ११। ८ में उल्लिखित 'विशिष्ट देवता' हैं। प्रथम का अह्वान किसी स्त्री के हृदय को प्रेम से उद्वेलित करने के लिए तथा दूसरे का वन में भटके पशुओं को टीक मार्ग पर लाकर घर लौटाने के लिए किया जाता है।

मैकड़ॉनल को भी जड़चेतनावाद का यह मत मान्य था क्योंकि उन्होंने लिखा है कि 'वैदिक देवशास्त्र बहुत प्राचीनकाल से चली आ रही उस शृंखला पर आधारित है जिसके अनुसार प्रकृति का प्रत्येक दृश्य तथा प्रत्येक तत्त्व सजीव और चेतना है' १

जडात्मवाद के समर्थक (श्रावर ने) ओ स्वीकार किया है कि उस प्रागैतिहासिक प्राचीनकाल में भी 'धर्म के उच्चतर स्वरूप का प्रारम्भ हो चुका था जो मुख्यतः प्राकृतिक तत्त्वों की उपासना से सम्बन्धित था' २ यदि थोड़े से 'विशिष्ट देवों' का अस्तित्व उस समय माना भी जाए तो भी इतना तो निश्चित है कि देवों की एक दूसरी श्रेणी का भी उस समय तक प्रादुर्भाव हो चुका था और इस श्रेणी के देवता मुख्यतः प्रकाश से सम्बन्धित होने के कारण प्रथम प्रकार के देवों से भिन्न थे। अनेक आर्य भाषाओं में 'देवता' के वाची विभिन्न शब्दों की तुलना से आर्यों की दैवी शक्तियों का मूल स्वरूप पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है : संस्कृत — देवः, ग्रीक — θεός, लेटिन — देउस् (देइवेस्) दिएवेस् (१६वीं शताब्दी तक देइवस्), आइरिश — दिया प्रा० नार्स — तिवर आदि सभी शब्द देवतावाची हैं और इन सब का मूल भारोपीय 'दिव्' धातु है, जिसका अर्थ चमकना, या प्रकाशित होना है। यह निर्भान्त व्युत्पत्ति सूचित करती है कि आर्यों ने देवता विषयक अपनी सर्वप्रथम धारणा प्रकाश या प्रकाशमान-आकाश से प्राप्त की थी ३

आर्य भाषाओं के कुछ अन्य समीकरणों के आधार पर हम कुछ अंशों में यह भी पता लगा सकते हैं कि अपने देवों के विषय में प्राचीन आर्यों की क्या धारणा थी? संस्कृत — भग, अवे० बगः, स्लेवा० बोगु, (उदार) शब्द यह सूचित करते हैं कि वे अपने देवों को उदार तथा ऐवर्श्य सम्पन्न समझते थे (सं० के भगवान् शब्द में भी यही भाव निहित है)। स्लेवानिक भाषा में तो देवों के उदारचेता होने की यह भावना इतनी अधिक प्रबल हुई है कि इसने दिव् धातु से सम्बन्धित मूल 'देइवेस्' शब्द को लुप्त सा कर दिया है और देवों के लिए 'बोगु' एक सामान्य संज्ञा बन गया है ४ अवेस्ता में भी 'बगः' शब्द देवों के सामान्य नाम के रूप में प्रयुक्त हुआ है। अवे० स्पेन्ता, लिथु० तथा प्रा० नार्स — स्वेन्तु (पवित्र, पूजनीय) शब्दों से प्रतीत होता है कि वे इन शक्तियों को आदर की दृष्टि से देखते थे। उनकी अपने देवों में पूर्ण श्रद्धा थी और उनकी कृपा पर विश्वास (संस्कृत — श्रद्धा लेटिन — क्रेदो, केल्टिक — क्रेटिम्, विश्वास)। वे इन शक्तियों को पूजन अथवा अर्चना से सन्तुष्ट एवं प्रसन्न रखने का प्रयत्न करते थे;

१. मैकड़ॉनल, वैदिक माइथॉलॉजी, पृ० २, तथा देशमुख, ओरिजिन० पृ० ११८।
२. ए० रि० ई०, द्वितीय भाग, 'आर्यन रिलीजन' पृ० ३३ अ।
३. ब्लूमफील्ड : रिलीजन ऑफ् दि वेद : पृ० १०८-९।
४. देशमुख : ओरिजिन० पृ० १२९।

सातविंक कृत्यों द्वारा बलात् अपनी कामनाओं की पूर्ति कराना उन्हें अभीष्ट नहीं था।
(संस्कृत—यज् अवे० यज्, ग्रीक—आग् = पूजा करना)'

प्राचीन आर्यों के इन्हीं उपास्य देवों के प्रागौतिहासिक स्वरूप का संक्षिप्त विवरण आगे के पृष्ठों में दिया जाएगा।

(३)

आकाश देव *द्येउस्* (*Dyeus)

भारोपीय काल काल के एक प्रमुख देवता, जो ऋग्वेद में मानवीकरण का एक झीना सा आवरण पहने हुए हैं और जिसका उदगम निश्चित रूप से प्राकृतिक तत्त्वों में दृढ़ा जा सकता है, आकाश के देवता 'द्येउस्' हैं। यह शब्द प्रायः भारोपीय 'दिव्' धातु से निष्पत्र माना जाता है पर अधिक सम्भावना यह है कि यह 'द्यु' जैसी किसी प्राचीन धातु से निकला है। दोनों धातुओं का अर्थ 'चमकना' है (सं० देव = प्रकाशशील, द्युति = प्रकाश), पर संस्कृत में दूसरी धातु प्रायः 'द्युत्' रूप में पाई जाती है। 'दिव्' की अपेक्षा 'द्यु' धातु से सं० द्यौस् शब्द का बनना अपेक्षाकृत अधिक सरल है। इसके अतिरिक्त भारोपीय भाषाओं में इन दोनों धातुओं से बने दो पृथक्-पृथक् समीकरण प्राप्त होते हैं। भारोपीय 'देइवस्' शब्द, जो संस्कृत में 'देव' आइरिश में 'दिया' लिथ० में 'देइवस्' लैटिन में 'देउस्' तथा प्रा० नार्स में 'तिवर' के रूप में पाया जाता है, सूचित करता है कि ये सभी शब्द दिव् धातु से बने हैं। किन्तु भारोपीय 'द्येउस्' का आर्य भाषाओं में एक सर्वथा विभिन्न विकास हुआ है, उदाहरणार्थ ग्रीक में 'ज्ञेउस्' लैटिन में 'जु' (-पिटर) अथवा 'जोव्' प्रा० उ० जर्मन में 'त्यू' (ज्यू) तथा प्रा० नार्स में 'ज्जिर' के रूप में। द्येउस् शब्द में तालव्य अर्धस्वर य् के सघोष दन्त्य व्यंजन द् में संयोग के कारण पश्चसमीकरण की भाषावैज्ञानिक प्रक्रिया से 'द्य' वर्ण का सघोष तालव्य 'ज्' अथवा 'ज्' में बदल जाना अत्यन्त स्वाभाविक है। और इस प्रकार संस्कृत द्यौस् तथा उससे सम्बन्धित अन्य भाषाओं के शब्द देव शब्द की मूल धातु (दिव्) से पृथक् ही 'द्यु' जैसी किसी अन्य धातु से बने प्रतीत होते हैं।

आकाश से सम्बन्धित इस देवता की 'द्यु' धातु से उत्पत्ति यह सूचित करती है कि द्येउस् के रूप में प्राचीन आर्यों ने प्रकाशयुक्त या प्रकाश प्रदान करने वाले आकाश का ही दैवीकरण किया था और आर्यों की सर्वोच्च प्राचीन धार्मिक भावना दिन के प्रकाश से सम्बन्धित थी।^१

१. ब्लूमफील्ड : वही, पृ० १०९।
२. कीथ : रिलीजन० प्रथम भाग, पृ० ३७, ६५।
- ग्रिसवोल्ड : रि० ऋ० पृ० १४।
- प्यूर : ओरिजिनल संस्कृत टैक्स्ट्स, पञ्चम भाग, १, २१, २२ आदि।

Vedic द्यौस् का कोई निश्चित एवं पूर्ण व्यक्तित्व नहीं है और ऋग्वेद में उनके चरित को भी बहुत दो या तीन प्रमुख विशेषताओं का ही उल्लेख हुआ है। किन्तु उनके Greek ग्रीक प्रतिरूप ज्येष्ठस् (Zeus) का मानवीकरण इतना पूर्ण तथा स्पष्ट है कि ग्रीक देवशास्त्र में उनके मूल प्राकृतिक रूप का कोई चिह्न अथवा संकेत नहीं पाया जाता। इसका कारण मुख्यतः यह है कि ग्रीक के प्राचीनतम महाकाव्य इलियड तथा ओडिसी, जिनमें उसका उल्लेख पाया जाता है, ऋग्वेद की अपेक्षा पर्याप्त अर्वाचीन हैं और ज्येष्ठस् के प्राचीनतर रूप को जानने का अब हमारे पास यूनानी साहित्य में कोई साधन नहीं है। परं ऋग्वेद में भी द्यौस् के स्वरूप की मूल अवधारणा, जिसके अनुसार वे प्रकाश से सम्बन्धित थे, पूर्णतः विलुप्त हो चुकी हैं और वे केवल आकाश के ही मानवीकरण रह गए हैं। द्यौः शब्द दिव् (स्त्रीलिंग) के प्रथमा के एक वचन के रूप में लौकिक संस्कृत में भी सुरक्षित है और यहाँ भी यह केवल आकाश का ही वाची है।

इस प्रकार द्यौः के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में ऋग्वेद में विकास की दूसरी अवस्था दिखाई पड़ती है। यहाँ वे सर्वाच्छादक आकाश की धारणा से भी युक्त हैं। आच्छादकत्व की यह विशेषता भारोपीय काल में मूलतः आकाश के एक अन्य प्रमुख देवता Voruenas (उओरुएनस) (या वरुण) से सम्बन्धित थी। किन्तु ऋग्वेद में वरुण भी अपने मूल Varun रूप को छोड़कर एक 'वैयक्तिक देवता' बन गए हैं।) ७०५५ वर समर्पित है।

Veda ऋ० वे० में द्यौस् की दूसरी प्रमुख विशेषता उनका पितॄत्व है। उनका 'द्यौष्पितर' (तु० की०, लेटिन 'जु-पिटर') के रूप में 'पृथिवीमातर्' के साथ आहान किया गया है। द्यौः और पृथ्वी सभी देवताओं के पिता और माता हैं। इसीलिए ऋ० वे० में द्यावापृथ्वी के लिए 'देवपुत्रे' विशेषण प्रयुक्त हुआ है। पिता द्यौः पृथ्वी पर झुक कर उसे गर्भवती बनाता है। स्पष्टतः यह आकाश से होने वाली वृष्टि के पश्चात् पृथ्वी पर उत्पन्न होने वाली वनस्पतियों के प्राकृतिक दृश्य का रूपक है। द्यौः के लिए असुर (शक्तिशाली, बलवान्) विशेषण भी प्रायः प्रयुक्त हुआ है। एक स्थान पर उसे मौतियों से सुसज्जित कृष्ण अथ भी कहा गया है (ऋ० वे० १०। ६८। ११), जो रात्रि के आकाश का सूचक है। ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों में उनका पशुविध चित्रण भी प्राप्त होता है। ऋ० वे० १। १६०। ४ तथा ५। ३६। ५ में उन्हें 'वृषभ' कहा गया है। यह वृषभ 'सुरताः' है

Greek और गम्भीरगर्जन करता है (ऋ० वे० ५। ५। ८६) ग्रीक देवशास्त्र में ज्येष्ठस् को भी कभी कभी वृषभ का रूप धारण करते हुए दिखाया गया है, सुन्दरी 'यूरोपा' का अपहरण ज्येष्ठस् एक वृषभ बनकर करते हैं। इस दृष्टि से ग्रीक ज्येष्ठस् भारतीय देवशास्त्र में इन्द्र से अधिक सम्बन्धित हैं।

Indra

- श्रावण : ए० रि० ई०, खण्ड २, आर्यन रिलीजन, पृ० ३३ ब।

~~वैदिक तथा लौकिक संस्कृत में प्रयुक्त 'गौः'~~ पिता द्यौः के लिए प्रयुक्त इस शब्द पर ध्यान रखते हुए पृथ्वी (माता) के लिए वैदिक देवता तथा लौकिक संस्कृत में प्रयुक्त 'गौः' शब्द का कारण भी सरलतया समझ में आ सकता है। द्यौ-वृषभ का गर्जन तडित के गर्जन का परिचायक है और यह सूचित करता है कि वर्षा के देव पर्जन्य की भी कुछ विशेषताओं का द्यौः के व्यक्तित्व में सम्मिश्रण हुआ है। एक स्थान में उन्हें 'अशनिमत्' कहा गया है और कुछ स्थलों पर उन्हें मेघों के पीछे से मुस्कराते हुए वर्णित किया गया है, जो निश्चित रूप से विद्युत् की lightning ओर संकेत है।

उनके पितृत्व को छोड़ कर केवल ये ही संकेत ऐसे हैं, जिनसे उनके मानवीकरण का पता चलता है। शेष स्थलों पर यह शब्द केवल आकाश को सूचित करता है। मैकडॉनल का मत है कि आकाश एवं पृथ्वी को सब प्राणियों के पिता और माता मानने की धारणा भारोपीय काल से भी प्राचीन है क्योंकि यह चीन, न्यूजीलैंड तथा मिस्र आदि आर्यों द्वारा ZEUS के देवशास्त्र में भी पाई जाती है।

Greek ग्रीक ज्येउस को यद्यपि कहीं भी देवों के पिता के रूप में चित्रित नहीं किया गया किन्तु फिर भी निर्विवाद रूप से वे ग्रीक देवमण्डल के सर्वाधिक सशक्त देवता हैं। वे क्रोनोस् तथा रिया के पुत्र हैं और अपने पिता क्रोनोस को सिंहासन से चुत करके स्वर्ग तथा पृथ्वी राज्य के अधिपति बन बैठते हैं। प्रायः उन्हें मनुष्यों के प्रति ईर्ष्यालु चित्रित किया गया है। जब प्रोमेथेउस् मनुष्यों के लिए आकाश से अग्नि लाता है (तडित के अन्तरिक्ष से पृथ्वी के वृक्षादि पर गिर कर उन्हें प्रज्वलित कर देने का रूपक) तो वे उसे काकेशस पर्वत पर तीस सहस्र वर्षों के लिए बन्दी बनां कर डाल देते हैं, जहाँ प्रतिदिन एक श्येन उसके उदर का मांस नोचता है। मनुष्य जाति से अप्रसन्न होकर वे प्रलय उपस्थित कर देते हैं, जिससे दो को छोड़ कर सभी मानव नष्ट हो जाते हैं।

उनके केश घुঁঁঘালे हैं और वे लम्बी दाढ़ी रखते हैं उनके हाथ में सशक्त वज्र रहता है जिससे वे पापियों का विनाश करते हैं। उनकी सात पलियाँ हैं किन्तु फिर भी वे पृथ्वी पर अन्य सुन्दर पलियाँ खोजने से नहीं चूकते। उन स्त्रियों के पास वे अनेक मानव तथा पशुरूप बना कर पहुँचते हैं। पर कभी कभी वे पृथ्वी पर न्याय के लिए अथवा किसी परीक्षा लेने के लिए भी पहुँचते हैं।^३

आगे हम यह देखेंगे कि भारोपीय काल में स्तनयित्व या झङ्गावात् को भी एक देवता माना जाता था। आकाश तथा झङ्गावात के ये दोनों देवता ग्रीक देवशास्त्र में अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व स्थिर न रख सके। ज्येउस ने तडित् एवं झङ्गावात् के इस देवता की

Greek
zeus

१. वै० मा०, पृ० ८।

२. देखिए डोनैल्ड ए० मांक्रिफ़ : क्लासिकल मिथ्स एण्ड लीजेन्ड्स, लंदन, पृ० ७२-७५।

१५

भारोपीय काल के उपास्य देवतत्त्व : घेउस्

विशेषताओं को इतना आत्मसात् कर लिया कि वह धीरे-धीरे ग्रीक देवमण्डल से ही विलुप्त हो गया।^१ बिल्कुल यही बात उत्तरी यूरोप के अन्य देशों के विषय में भी है।

Greek यद्यपि देवों के सप्राट् ज्येउस् के मौलिक एवं प्रारम्भिक रूप की स्मृति ग्रीक ZEUS देवशास्त्र में सुरक्षित नहीं है तो भी यह उनके EUROPA (विशाल नेत्र वाले) आदि Greek विशेषणों से ध्वनित होती है। ज्येउस् का यह विशेषण ग्रीक साहित्य में अत्यन्त प्राचीन है और सम्भवतः दिन के प्रकाश से उसका सम्बन्ध सूचित करता है।

Herodotus
In Avestan
Zeus
Iranian

Veda भारतीय, ग्रीक तथा रोमन धर्मों में ही नहीं लिथुआनियन तथा प्राचीन ईरानी धर्म में भी आकाश को पूजा प्राप्त होती है। प्रसिद्ध ग्रीक इतिहासकार हेरोदोतस् ने ईरानी धर्म का जो विवरण दिया है, उससे इस विषय में कोई सन्देह नहीं रह जाता। अपने इतिहास में उसने लिखा है, कि — “उनकी (ईरानवासियों की) यह रीति है कि वे किसी ऊँचे शिखर पर चढ़ कर ज्येउस् के लिए यज्ञ किया करते हैं और आकाश के सम्पूर्ण मण्डल को ज्येउस् के ह कर पुकारते हैं।”^२ द्यूटन जाति (प्राचीन जर्मनी) में भी आकाश के देवता का महत्वपूर्ण स्थान है और उनके देवशास्त्र में वह युद्ध का प्रमुख देवता माना गया है। इस प्रकार अनेक आर्य धर्मों में किसी न किसी रूप में आकाश की देव रूप में कल्पना प्राप्त होने से स्पष्ट है कि प्राचीन भारोपीय आर्य धर्म में आकाश की उपासना अवश्य ही महत्वपूर्ण स्थान रखती थी।^३ वैदिक ऋषि भी सम्भवतः उनकी इस प्राचीनता को जनते थे, इसीलिए उन्होंने द्यावापृथ्वी को ‘पूर्वजे’ (ऋ० वे० ७। ५३। २) कहा है —

यद्यपि यह पूर्णतः निश्चित है कि आकाश एवं उससे सम्बन्धित प्राकृतिक शक्तियों की उपासना ही भारोपीय आर्य धर्म का केन्द्र-बिन्दु थी किन्तु यह विवादास्पद है कि “घेउस्” का तत्कालीन देवमण्डल में क्या स्थान था। ब्रैडके का मत है कि घेउस् को भारोपीय काल में अन्य देवों का जनक माना जाता था। वह उनका राजा था और सभी देवता उसके आनन्द समान जाते थे।^४ इस प्रकार उसकी स्थिति बिल्कुल वही थी, जो

१. “देखिए” प्रिस्वोल्ड : रिलीजन ऑफ़ दि ऋग्वेद : पृ० १००-१०१ ‘वे (ज्येहुस् तथा जुपिटर) केवल विभागीय देवता ही नहीं रहे। धीरे-धीरे उन्होंने ऐसी विशेषताओं को भी आत्मसात् करना प्रारम्भ किया, जो मूलतः उनके क्षेत्र में नहीं थीं विशेषतः झंझावात के देवता की। इस प्रकार वे अधिक शक्तिशाली तथा वैयक्तिक होते गए।’ तथा आडर, ए० रि० ई०, भाग २, “आर्यन रिलीजन” पृ० ३४ अ।
२. Their custom is to ascend to the highest peaks of the mountains and to offer the sacrifice to Zeus, calling the whole vault of the sky Zeus....” Herodotus. 1.131.
३. तु० की० माउल्टन : अली ज़ौरेस्ट्रियनिज्म, पृ० ३९१
४. तु० की०, टायलर, प्रिमिटिव कल्चर, पृ० ३२२-२८।
५. ब्रैडके : द्यौस् असुर पृ० ११०।

ग्रीक देवमण्डल में ज्येउस् की। ओल्डेनबर्ग ने इस मत की आलोचना करते हुए कहा है कि भारोपीय काल के देवों का स्वरूप इतना अधिक अस्थिर तथा अपूर्ण था कि हम उनकी एक सुसंयत एवं क्रमबद्ध देवमण्डल के रूप में कल्पना नहीं कर सकते।^१ मैकडॉनल भी कहते हैं कि 'द्यौस्' को भारोपीय काल के देवों का सर्वोच्च शासक मानना भूल होगी क्योंकि इसका तात्पर्य यह है कि उस प्राचीनतम प्रागैतिहासिक काल में भी आर्यों की प्रवृत्ति कुछ-कुछ एकदेववाद (मोनोथीज्म) की ओर थी, जो अत्यन्त संदिग्ध है।^२

किन्तु यदि देवों और मनुष्यों के सर्वोच्च स्वामी के रूप में इस देवता की प्रतिष्ठा नहीं भी थी तो भी कम से इतना तो निश्चित ही है कि प्राचीन आर्य देवताओं में इनको सम्मानास्पद स्थान प्राप्त था। मैकडॉनल ने स्वयं यह स्वीकार किया है कि द्यौस् उस अस्थिर बहुदेववाद के देवताओं में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण थे।^३

आश्र्य का विषय है कि भारोपीय काल के इस महत्त्वपूर्ण देवता की ऋग्वेद में अत्यन्त महत्त्वहीन स्थिति है। द्यौस् के वैदिक स्वरूप को देख कर कोई अनुमान भी नहीं लगा सकता कि इस देवता का भी कभी कोई विशेष महत्त्व भी था। एक भी सम्पूर्ण सूक्त उनके लिए नहीं प्राप्त होता। केवल इधर उधर प्रकीर्ण कुछ थोड़े से मन्त्रों में ही उनका उल्लेख किया गया है। इस विषय में उनकी 'पत्नी' पृथ्वी माता ही अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उनके लिए अथर्ववेद में एक लम्बा सूक्त (१२।१) प्राप्त होता है। द्यौस् ऋग्वेद में अधिकांशतः एक अमूर्त एवं भावात्मक देवता हैं और जो थोड़ा सा उनका मानवीकरण है, वह भी उनके पितृत्व से ऊपर नहीं उठ पाता। अन्य वैदिक संहिताओं में तो उनका उल्लेख भी नहीं है और वे वैदिक देवशास्त्र से पूर्णतः विलुप्त हो गए हैं।

वैदिक देवमण्डल में द्यौस् की इस महत्त्वहीनता का कारण समझना कठिन नहीं है। पहली बात तो यह है कि प्राचीनतम काल में जब इस देवता की धारणा ने जन्म लिया तो सम्भवतः इनका व्यक्तित्व मुख्य रूप से प्रकाश से सम्बन्धित था। (जैसा कि 'द्यु'-धातु से स्पष्ट है) किन्तु धीरे-धीरे वैदिक-काल में सूर्य, सविता, पूषा, मित्र, विष्णु, विवस्वान् आदि अनेक सौर देवताओं के जन्म से तथा वरुण के आकाशदेव के रूप में प्रतिष्ठित हो जाने से उनका महत्त्व प्रकाश और आकाश के दोनों ही क्षेत्रों से समाप्त हो गया।

१. - डी रिलीगियोन डेस वेद, पृ० ३४, टिं० १

२. वै० मा०, पृ० २२

३. वही। इस प्रसंग में एक बात और महत्त्वपूर्ण है। संस्कृत में 'द्यु' धातु का अर्थ जीतना (अभिगमन) अथवा श्रेष्ठ होना भी है। यह ध्वनित करता है कि द्यौःशब्द में भी प्राचीन समय में श्रेष्ठता का भाव रहा होगा।

दूसरा मुख्य कारण यह है कि आकाश का भौतिक दृश्य हर समय मनुष्य के नेत्रों के समुख उपस्थित रहता है। अतः द्यौस् का मानवीकरण कभी भी पूर्ण न हो सका। वे एक अमूर्त से देवता रहे और कभी भी एक विकसित वैयक्तिक देवता की स्थिति नहीं प्राप्त कर सके। उनके सम्बन्ध में किसी भी कथा की कल्पना नहीं हुई और इस प्रकार उनके व्यक्तित्व की बाह्य रूपरेखा ही वर्तमान रही। यही कारण है कि यज्ञों में कभी भी उनको भाग प्रदान नहीं किया गया।

यह भी सम्भव है कि ऋग्वेद की बहुदेवतावाद की प्रवृत्ति से जो 'हीनोधीज्ज्य' पर आधारित थी और जिसमें प्रत्येक देवता को यथावसर सर्वोच्च माना जाता था, उनकी सार्वभौम-सत्ता पृष्ठभूमि में पड़ गई हो^१। ऋग्वेद के ऋषियों के लिए कोई भी एक देवता सर्वाधिक महत्वपूर्ण नहीं था। ऋषिगण प्रत्येक स्तूयमान देवता को सर्वोत्कृष्ट बताने के अभ्यस्त हैं। यही कारण है कि परवर्ती वैदिक संहिताओं में वरुण भी अपने ऋग्वैदिक उत्कृष्ट पद से बहुत नीचे गिर गए हैं।

इस प्रकार पिता द्यौस्, जो कभी 'देवत्व' की धारणा के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि थे, धीरे-धीरे अपने पुत्रों को अपना स्थान देकर वैदिक देवमण्डल से पूर्णतः विलुप्त हो गए।

उओरुएन्स् (Uoruenos)

(संस्कृत वरुण शब्द की ग्रीक ऊरानेस् — प्राचीन उच्चारण 'ओउरानेस्' (Ouranos))

— से तुलना करने से प्रतीत होता है कि सम्भवतः भारोपीय काल में आकाश का एक अन्य देवता भी वर्तमान था, जिसका मूल भारोपीय नाम भाषा-वैज्ञानिक नियमों से 'उओरुएन्स्' के रूप में परिकल्पित किया जा सकता है^२। यह शब्द वृ (आच्छादन करना या ढकना) जैसी किसी भारोपीय धातु से निकला था और सम्भवतः संसार की प्रत्येक वस्तु को अपने विस्तार से आच्छादित कर लेने वाले आकाश के मण्डल या परिणाह का द्योतक था^३। इस प्रकार द्येउस तथा 'उओरुएन्स्' ये दोनों शब्द आकाश के ही दो विभिन्न रूपों के बाची थे। प्रथम उसके सूर्य तथा अन्य ज्योतिष्यण्डों से प्रकाशमान स्वरूप को सूचित करता था और दूसरा उसके सर्वव्यापित्व को^४। ये एक ही प्राकृतिक तत्व को व्यक्त करने वाले परस्पर सम्बद्ध दो विशेषण मात्र थे, जो

१. ई० मायरः 'गेशिष्टे डेस् आल्टरटुम्स', प्रथमांग, द्वितीयखण्ड (स्टुटगार्ट १९१३) पृ० ११०।
२. देखिए, कीथ : रिलीजन० भाग १, पृ० ३८।
३. देखिए, ऋ० वै० १। ८९। ३ पर सायणभाष्य, मैकडॉनल, वै० मा० पृ० २८।
ब्लूमफील्ड : रिलीजन ऑफ् दि वेद पृ० १३७; श्रांडर, आर्यन् रिलीजन पृ० ३२२।
४. (अ) पिशेल और गैल्डनर (वेदिशे शैटूडियन, भाग १, पृ० ८८) तथा ग्रिसवोल्ड (रिलीजन ऑफ् दि ऋग्वेद, पृ० ११३-४) ने वरुण शब्द का वारि तथा वर्षा आदि शब्दों से सम्बन्ध

कालान्तर में स्वतन्त्र देवताओं के रूप में विकसित हुए।

यह भी सम्भव है कि प्राचीनकाल में इनमें से कोई एक आकाशदेव का वाची रहा हो और दूसरा उसके एक महत्वपूर्ण विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता हो किन्तु वैदिक एवं ग्रीक देवशास्त्रों में देवों का पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र रूप में अस्तित्व यह सूचित करता है कि किसी न किसी रूप में भारोपीय काल में इन दोनों देवों का अस्तित्व अवश्य था।

संस्कृत वरुण तथा ग्रीक ऊरानेस शब्दों के तादात्य में कई विद्वानों को सन्देह रहा है। श्राड़र ने ए० रि० ई० (द्वितीय भाग) में प्रकाशित अपने 'आर्यन रिलीजन नामक लेख में इस समीकरण की आलोचना की है और इसे 'ध्वन्यात्मक दृष्टि से पूर्णतः अस्वीकार्य' माना है। उनके मत से भारोपीय काल में केवल एक ही आकाशदेव था और वह था, द्येउस्। कीथ ने लिखा है कि 'यद्यपि इन शब्दों को अब भी एक ही मूल शब्द से उत्पन्न माना जाता है, किन्तु यह पूर्णतः निश्चित नहीं। किन्तु मैकडॉनल का मूल है कि यद्यपि इस समीकरण में कुछ ध्वनि-सम्बन्धी कठिनाइयाँ हैं फिर भी दोनों की एकरूपता सम्भव है'।

दोनों शब्दों को मूल रूप में एक मानने में सबसे बड़ी उत्पत्ति यह है कि ग्रीक ऊरानेस् शब्द 'रू' के बाद जो 'अ' आता है उसका वरुण शब्द में कोई चिह्न नहीं है। ऊरानेस् शब्द का मूल भारोपीय शब्द 'उओरु-एनेस्' अथवा 'उओरु-न्नस्' प्रतीत होता है और वरुण शब्द का मूल 'उओरु-नस्'। इस प्रकार जब दोनों शब्दों का उद्भव ही भिन्न है तो वे समान शब्द कैसे हो सकते हैं? किन्तु ब्लूफील्ड का मत है कि 'उओरु-एनेस्' तथा 'उओरु-नस्' एक ही शब्द के भाषागत दो विभिन्न रूप हैं। बोली

दिखाते हुए यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि इस शब्द का मूल अर्थ 'वर्षा करने वाला' था। ग्रीक ऊरानेस् का भी 'औराइ' क्रिया से सम्बन्ध है, जिसका अर्थ जल वरसाना होता है। बाद में भ्रामक व्युत्पत्ति के द्वारा वरुण शब्द को 'वृ' धातु से निष्ठा मान कर आकाश से उसका सम्बन्ध मान लिया गया। वरुण शब्द के जल या वर्षा से इसी सम्बन्ध के कारण सम्भवतः ऋग्वेद तथा परवर्ती पौराणिक साहित्य में वरुण को समुद्रों का स्वामी तथा जल का अधिष्ठाता बताया गया है। तु० की०, हॉपकिन्स (रिलीजन्स ऑफ़ इन्डिया, पृ० ६६)

"वरुण वह आकाश है, जो जल तथा मेघों से आच्छन्न रहता है।" इनके मत के अनुसार वरुण शब्द का अर्थ 'ढकने वाला' नहीं अपितु [मेघों से] 'ढका हुआ' [आकाश] है।

(आ) हिलेब्रांडट ने अपनी सुप्रसिद्ध जर्मन पुस्तक 'वेदिशे मिथोलोगी' (द्वितीय भाग) में विस्तारपूर्वक यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि वरुणः चन्द्रमा से सम्बद्ध हैं।

१. ग्रिसवोल्ड : रिलीजन ऑफ़ दि ऋग्वेद, पृ० ११२-१३।

२. कीथ, रिलीजन० प्रथम भाग, पृ० ३८

३. वे० मा० पृ० ८।

की विभिन्नता के आधार पर प्रायः शब्दों के ऐसे दो-दो रूप प्रचलित रहते हैं। उदाहरणार्थ वैदिक 'नूतन' तथा 'नूल' शब्द का एक ही अर्थ (नवीन) है और ग्रीक भाषा के 'स्टैगेनॅस्' तथा 'स्टेगेनॅस्' भी एक ही अर्थ (ढका हुआ, आच्छादित) के बाची हैं।

एशिया माइनर या तुर्किस्तान के बोगाज़-क्यूर्झ नामक स्थान में सन् १९०७ में प्राप्त एक मृत्फलक से वरुण की अत्यधिक प्राचीनता सिद्ध होती है। यह फलक १४वीं शती ई० पू० का है और इसमें कीलकाक्षरों में हित्तिति और मितानी जाति के दो राजाओं की पारस्परिक सन्धि का विवरण है। दोनों जातियों के देवों का सन्धि की शर्तों की रक्षा के लिए आहान किया गया है। मितानी जाति के देवों की सूची में चार वैदिक देवताओं का उल्लेख किया गया है और वे हैं, वरुण (उ- रु- व- न) इन्द्र, मित्र तथा नासत्या (अधिनौ) और यदि, जैसा कि ओल्डेनबर्ग का विचार है, "ये देवता आर्य जाति की ही एक शाखा (मितानी) के देवता हैं और समान भारोपीय स्रोत से ही मितानी तथा भारतीय आर्य जातियों को प्राप्त हुए हैं" २ तो वरुण की प्राचीनता निःसन्दिग्ध रूप से प्रस्थापित हो जाती है।

(ग्रीष्म) ६८७ जैसे वैदिक साहित्य में द्यौस् एक अत्यन्त सामान्य से देवता हैं उसी प्रकार ग्रीक देवशास्त्र में ऊरानॅस् का व्यक्तित्व अत्यन्त क्षीण है। उन्हें देव तथा दानव दोनों ही जातियों का मूल उत्पादक कहा गया है। उनकी पुली का नाम 'ग्या' अथवा 'गो' है, जो पृथ्वी का ही प्रतीकात्मक रूप है।^३ (अंग्रेजी के ज्योग्राफी, ज्योलजी आदि समास-शब्दों के प्रारूप में यही शब्द है) ऊरानॅस् अपनी दानव सन्तान से अत्यन्त घृणा करता है और उन्हें एक गुफा में बंद कर देता है। 'ग्या' तब एक षड्यन्त्र रचती है और अपने पुत्र ख्रोनॅस (Chronos=काल, समय) को अपने पिता ऊरानॅस की हत्या करने की सलाह देती है। ख्रोनॅस अपने पिता की एक हँसिये से हत्या कर डालता है किन्तु उसके शरीर से निकलते हुए रक्त से पुनः अनेक राक्षस उत्पन्न हो जाते हैं। कुछ समय पश्चात् अपने शक्तिशाली पुत्र ज्येउस् के हाथों से ख्रोनॅस का भी वही हाल होता है, जो उसने अपने पिता का किया था।

१. ब्लूमफील्ड, रिलीजन ऑफ़ दि वेद : पृ० १३६।
२. विन्टरनित्स द्वारा अपनी हिस्ट्री ऑफ़ इंडियन लिटरेचर, प्रथम भाग पृ० ३०५ पर उद्धृत।
३. संस्कृत के गौ शब्द से इसकी तुलना कीजिए। यह भी पृथ्वी का बाची है (निरुक्त, नैघण्टुक काण्ड, द्वितीयपाद : गौरिति पृथिव्या नामधेयम्। यद् दूरं गता भवति। यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति) और पृथ्वी वेदों में आकाशर्देव द्यौः की पली है।
४. डी० ए० मांक्रिफ़ : क्लासिकल मिथ्स एण्ड लीजैण्ड्स, पृ० १४।

Greek [ऊरानॅस् के विषय में केवल इतना ही विवरण ग्रीक देवशास्त्र में प्राप्त होता है। वे देवों के शक्तिशाली सम्प्राट् ज्येऽउस् के पितामह हैं] ग्रिसवोल्ड ने ठीक ही कहा है कि इस तथ्य से ऊरानॅस् की अत्यधिक प्राचीनता का भान होता है^१ और इनकी धारणा का उद्धव ज्येऽउस् से परवर्ती नहीं हो सकता। ग्रीक देवशास्त्र में इनकी मृत्यु इसलिए वर्णित कर दी गई है कि इनके विषय में कोई भी अन्य कथा प्राप्त नहीं होती। इनका व्यक्तित्व भी अपूर्ण है और उसकी केवल क्षीण रूपरेखा मात्र अवशिष्ट है।

आकाश के दृश्य के सर्वत्र और सदा उपस्थित रहने के कारण आकाशदेव उओरुएनॅस् में बहुत शीघ्र ही सर्वत्र उपस्थित रहने की विशेषताएँ उत्पन्न हो गई। यह विश्वास किया जाने लगा कि उओरुएनॅस् पृथ्वी पर होने वाले प्रत्येक कृत्य को देखते हैं तथा पापियों को दण्डित करते हैं। नैतिक अथवा प्राकृतिक नियम (सं० ऋत तथा अवे० अश) की धारणा उनके साथ सम्बन्धित हो गई और उन्हें सांसारिक नियमों का सर्वोत्कृष्ट परिपालक माना जाने लगा। ऋग्वेद एवं अवेस्ता में ही उओरुएनॅस् के व्यक्तित्व के पूर्णतः विकसित होने के कारण इन ग्रन्थों में उनके चक्षु का प्रायः उल्लेख किया गया है। ऋग्वेद में सूर्य को वरुण का नेत्र कहा गया है, उसकी सहायता से वे समस्त संसार के कार्यों को देखते हैं (ऋ० वे० ६। ५१।१) रात्रि में सूर्य संसार के कार्यों का विवरण देने वरुण के घर जाता है (७। ६०।१-३) श० ब्रां० के अनुसार भी संसार के स्वामी वरुण सर्वोच्च आकाश में बैठकर जगत् का सर्वेक्षण करते हैं^२। उनके दूतों (स्पशाः) का भी उल्लेख किया गया है, जो आकाश से उत्तर कर प्रत्येक व्यक्ति का निरीक्षण करते हैं (अ० वे० ४। १६।४)।

Veda वरुण प्रकृति के नियमों के नियन्ता हैं। उन्होंने ही आकाश एवं पृथ्वी को पृथक् स्थापित किया है (ऋ० वे० ८। ४१।९०)। उन्होंने सूर्य को आकाश में प्रस्थापित करके उसे धूमने के लिए प्रेरित किया है (ऋ० ७। ८७।१)। उन्होंने ही अग्नि को जल में स्थित किया है और उन्हीं के बनाए नियमों के अनुसार चन्द्रमा प्रकाशित होता हुआ रात्रि में आकाश में विचरण करता है और तारे रात में चमक कर दिन में लुप्त हो जाते हैं (ऋ० १। २४।९०)।

धृतव्रत (जिसके नियम स्थिर हों) विशेषण उनके लिए प्रायः प्रयुक्त किया गया है। देवता भी उनके नियमों का पालन करते हैं (ऋ० ५। ६९।४)। जब कोई उनके नियमों का उल्लंघन करता है तो वे, अपने पाशों से बाँध कर उसे दण्ड देते हैं।

इस प्रकार आर्यों की इन दो शाखाओं में वर्तमान वरुण के स्वरूप को देखने से प्रतीत होता है कि आकाश के इस देवता के साथ नैतिक तथा आचारशास्त्रीय भावनाओं

१. ग्रिसवोल्ड: रिलीजन ऑफ् दि ऋग्वेद, पृ० ११०।
२. मैकडॉमल : वै० मा०, पृ० २३।

भारोपीय काल के उपास्य देवतत्व : उओरुएन्स्

जा संयोग सम्बवतः वैदिक-काल से भी पहले की वस्तु है। साथ ही प्राकृतिक तथा नैतिक नियम (वैदिक ऋत्य या ईरानी अश) की धारणा का, जो ब्लूमफील्ड के शब्दों में “आर्यो द्वारा उद्दावित सर्वोत्कृष्ट धार्मिक विश्वास” हैं, उओरुएन्स् से सम्बन्ध इस देवता के प्रागौत्तिहासिक काल में भी अत्यन्त उत्कर्ष को सूचित करता है। ५

पृथिवी माता

द्येउस् के प्रसंग में यह कहा जा चुका है कि प्राचीनतम काल में केवल आर्य जाति में ही नहीं अपितु अनेक आर्येतर जातियों में भी पृथ्वी एवं आकाश को जगत् के माता-पिता माना जाता था किन्तु जिस प्रकार हमें प्राचीन आर्यसाहित्य में इस तथ्य के स्पष्ट प्रमाण प्राप्त होते हैं कि आकाश का भौतिक दृश्य बाद में कम से कम द्यौस् और वरुण इन दो शक्तिशाली देवों के रूप में विकसित हुआ वैसा पृथ्वी के विषय में नहीं है। आर्य जाति की किसी भी शाखा में पृथ्वी का एक शक्तिशाली देवी के रूप में चित्रण प्राप्त नहीं होता। क्रृवेद तक में पृथ्वी का मानवीकरण अत्यधिक अपूर्ण है। उसके सम्बन्ध में सबसे अधिक उसके मातृत्व का उल्लेख हुआ है। अथर्ववेद में भी पृथ्वी के विषय में एक सुन्दर सूक्त (१२।१) प्राप्त होता है किन्तु इसमें मुख्यतः केवल पृथ्वी के ऊपर घटित होने वाले विभिन्न दृश्यों की परिगणना की गई है। “जिसके ऊपर मनुष्य गाते और नाचते हैं, साथ ही जिसके ऊपर दुन्दुभियाँ बजा कर आपस में घोर युद्ध भी करते हैं, वह भूमि हमारे शत्रुओं को नष्ट करे और हमें कल्याण से रहने दे” —

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां, मर्त्या व्यैलबाः ।

युध्यन्ते यस्यामाकन्दो यस्यां नदति दुन्दुभिः ।

सा नो भूमिः प्र णुदतां सपत्नान् असपतं मा पृथ्वी कृणोतु ॥

— अ० वे० १२।१।४९

क्रृष्ण भूमि के भौतिक स्वरूप से अधिक ऊपर जहाँ उठ सका है। किन्तु अत्यन्त स्थेहसिक शब्दों में उसने पृथ्वी को अपनी माता बताया है। भूमि मेरी माता है और मैं उसका प्रिय पुत्र हूँ। जैसे माता अपने पुत्र को दूध पिलाती है उसी प्रकार माता पृथ्वी (अपने अन्नादि से) मुझे पुष्ट करें—

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः ।

सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः ।

— अ० वे० १२।१।१२, १०

पृथ्वी एक ऐसी उदारशील माता है, जो प्रत्येक प्राणी को जन्म देती है, उसका पालन करती है और फिर उसे अपने कोमैल अंक में समेट लेती है (क्रृ० वे० १०।

१. रिलीजन ऑफ दि वेद, पृ० १२६।

Greece
१८१०) होमर द्वारा लिखित ग्रीक महाकाव्यों में भी पृथ्वी (ग्या) को तारकित ऊरानेस् (आकाश) की पत्ती कहा गया है।

विल्के^१ तथा टायलर^२ का मत है कि आकाश के पितृत्व की धारणा से पृथिवी की जगत् की माता के रूप में धारणा अधिक प्राचीन है क्योंकि यह सरल एवं स्पष्ट है और इसीलिए अधिक सामान्य भी। आकाश में पितृत्व की कोई प्रत्यक्ष विशेषता नहीं है किन्तु पृथ्वी पर हम प्रत्येक दिन अनेक प्राणियों तथा औषधियों को जन्म लेते देखते हैं। प्रतीत होता है कि पृथ्वी माता के लिए आकाश को बाद में पिता कल्पित कर लिया गया है।

जो हो, इतना तो निश्चित ही है, पृथ्वी के विषय में उसके मातृत्व को छोड़कर अन्य कोई विशेषता नहीं है। उसका व्यक्तित्व सदा अत्यन्त क्षीण रहा और कभी भी एक पूर्ण देवी का रूप नहीं ले पाया। इसका कारण सम्भवतः यही था कि उसका भौतिक स्वरूप इतना अधिक जड़ तथा स्थूल था कि वही लोगों के नेत्रों के सम्मुख सदा उपस्थित रहता था और इससे ऊपर उठना कठिन था। प्रत्युत इसकी अपेक्षा तो आकाश एवं उससे सम्बन्धित प्रकाश आदि के दृश्य ही अमूर्त देवों के रूप में सरलतया परिवर्तित किए जा सकते थे। भूमि के लिए ऋग्वेद के सर्वाधिक सामान्य पृथिवी या पृथ्वी शब्द का अर्थ केवल 'चपटी' या 'फैली हुई' होता है। मही एवं दृढ़ा शब्द पृथ्वी के विस्तार एवं स्थिरता के बाची हैं।

पृथिवी के विषय में आर्यभाषाओं में निम्नलिखित समान शब्द प्राप्त होते हैं किन्तु उपर्युक्त कारणों से यह निर्णय करना कठिन है कि भारोपीय काल में पृथिवी की पूजा वरुण आदि की भाँति कोई विशेष महत्व रखती थी —

[संस्कृत-क्षमा, अवेस्तन-ज्ञमा फारसी-ज़मीन, लैटिन-हूमेस् (तु० की, अंग्रेजी हूमन् = पर्थिव, मर्त्य) लिथुआनियन-ज़ोमे, प्रा० स्लेव — जेम्ल्ज़ा आदि।

तडित् एवं वर्षा के देवता

वर्षा एवं झंझावात् का दृश्य प्राचीन समय में प्रकाशित आकाश (द्यौः) की धारणा से अत्यन्त घनिष्ठतया सम्बन्धित था और यही कारण है कि ग्रीक तथा रोमन देवशास्त्रों में आकाश एवं वर्षा के देवों की धारणाएँ मिलकर एक हो गई हैं और उन्होंने मिलकर एक सशक्त देवता ज्येउस् या जुपिटर का निर्माण किया है। किन्तु प्रतीत होता है कि परस्पर सम्बन्धित इन दो देवों के व्यक्तित्वों का सम्मिश्रण बाद की वस्तु है और आर्य या भारोपीय काल में अवश्य ही ये दो पृथक् एवं स्वतन्त्र देवता रहे होंगे। निम्नलिखित

१. विल्के: डी रिलीगियोनेन डेज इण्डोगेमनेन, पृ० ९७।
२. टायलर: प्रिमिटिव कल्चर, पृ० ३२२-२६।

भारोपीय काल के उपास्य देवतात्व : पृथ्वीमाता

समीकरणों से स्पष्ट हो॥^१ भारत तथा उत्तरी यूरोप के अधिकांश देशों में वर्षा के देवता का व्यक्तित्व सुरक्षित है किन्तु अन्य स्थानों पर यह आकाश के देवता के साथ घुल-मिल गया है।

१. क — संस्कृत - स्तन्-स्तनयति (गरजता है)। स्तनथ, स्तननम्, स्तनितम् (गर्जन) तथा स्तनयिलु (तडित्)। प्रा० उच्च जर्मन - डौनर, प्रा० नि० जर्मन - थूनर, प्रा० नौर्स - थौरै।

ख — कैलिक - टोरेन्स, आइरिश - टोरन्न, वैल्शा - टरन्, कर्निश - टरन् अंग्रेजी - थन्डर (वर्णविपर्यय से)

२. — संस्कृत - पर्जन्य, लिथुआनियन - पैर्कुनस्, प्रा० स्लेव० - पेरून्।

Veda ऋग्वेद में वर्षा के इस देवता का नाम पर्जन्य है। यह शब्द मेघों का भी वाची है। इसी प्रकार लिथुआनियन पैर्कुनस् तथा स्लेवानिक पेरून् शब्द भी, जो सामान्यतः इस वर्षा के देवता को सूचित करते हैं, प्रायः इंजावात एवं तडित् को व्यक्त करने के लिए भी प्रयुक्त हुए हैं। पैर्कुनस् शब्द का प्रा० नौर्स शब्द 'पर्जोगिन' से भी सम्बन्ध माना गया है, जो थौरै की माता का नाम है^२। कुछ विद्वानों का यह भी विचार है कि पैर्कुनस् आदि शब्द लैटिन 'क्लैर्कस्' तथा प्रा० उ० ज० 'फोर्हा' से भी सम्बन्धित है क्योंकि इन दोनों शब्दों का भी मूल भारोपीय शब्द पेर्कु प्रतीत होता है, जो पैर्कुनस् और पर्जन्य का भी मूल है। लैटिन और प्रा० जर्मन के ये शब्द ओक वृक्ष के वाची हैं। श्रादर का विचार है कि ऊँचे होने के कारण तडित् ओक के वृक्ष पर अधिक गिरती है। अतः इस देवता के नाम का मूल भाव 'ओक का देवता' रहा होगा^३।

पर दूसरे समीकरण की प्रामाणिकता के विषय में विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है। सं० पर्जन्य का लिथ० पैर्कुनस् से सम्बन्ध पर्याप्त सन्दिग्ध है क्योंकि पहली बात तो यह है कि संस्कृत का 'ज' किसी भी समान लिथुआनियन शब्द में 'क' के रूप में परिवर्तित नहीं पाया जाता, और दूसरी बात यह है कि लिथ० के 'उ' के स्थान पर सं० में भी 'उ' ही पाया जाना चाहिए^४। इसके अतिरिक्त सं० पर्जन्य का ओक अथवा अन्य किसी वृक्ष से कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। इसीलिए श्रादर ने कहा है कि संस्कृत पर्जन्य शब्द से ध्वनि-सम्बन्धी कारणों से इस श्रेणी में नहीं रखा जा सकता; पैर्कुनस् तथा पेरून् के विषय में उनके संज्ञा-सम्बन्धी भाव (तडित्) से अन्वेषण प्रारम्भ करना ही उचित होगा।^५

१. श्रादर— ए० रि० ई० द्वितीय भाग, आ० रि० पृ० ३३ ब।

२. श्रादर : वही—

३. मैकडॉनल, वै० मा०, एडेन्डा एण्ड कारिजेन्डा, पंक्ति ३९।

४. श्रादर : वही, पृ० ३३ ब।

ई० लीडेन ने पर्जन्य एवं पैर्कुनस् आदि शब्दों का पेर्कु (ओकवृक्ष) से सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया है। इन शब्दों के तडित् से सम्बन्ध को मान कर आगे बढ़ते हुए उन्होंने इन्हें प्रा० स्लेव० — पेरा-पिरति तथा आर्मीनियन- हक्कनिन (तथा ओरत=गर्जन) इन दो क्रियाओं से सम्बन्धित किया है। इन दोनों क्रियाओं का अर्थ है, ताडन करना या मारना^१। यदि यह तुलना ठीक है तो पैर्कुनस तथा पर्जन्य आदि शब्दों का मूल भाव 'ताडन करने वाला' या 'तडित्' रहा होगा और यह सिद्ध हो जाएगा कि इन्हीं शब्दों में तडित्तर्जन को व्यक्त करने वाला मूल भारोपीय शब्द निहित है (तु० की० पर्जन्यसूक्त, ऋ॒ वे. अभिक्रन्द स्तनय गर्भमाधा: उद्वन्वता.....)।

पर पर्जन्य और पैर्कुनस् का तादात्म्य फिर भी संदिग्ध ही रह जाता है। कीथ^२ और मैकडॉनल^३ दोनों का ही मत है कि इन शब्दों के तादात्म्य में ध्वनि-सम्बन्धी बहुत सी अड़चनें हैं, जिनकी सन्तोषजनक व्याख्या करना कठिन है। किन्तु ब्लूमफील्ड ने सुझाया है कि मूल भारोपीय शब्द पैर-कुन ही था। बाद वैदिक भाषा में आने पर इस शब्द का ठीक-ठीक तात्पर्य न समझने के कारण वैदिक-काल के विद्वानों के 'क' (अथवा ग) को 'ज' में परिवर्तित कर लिया और 'पैर' को 'परि' बनाकर इसका अर्थ 'जनों' (या मनुष्यों) की संब ओर से रक्षा (पोषण) करने वाला' समझ लिया गया (परि = चारों ओर से, जन = मनुष्य, जन्य = मनुष्यों का)।^४ यास्क ने इस शब्द की निम्नलिखित चार व्याख्याएँ की हैं, जिससे प्रतीत होता है कि भारतीय विद्वानों में बहुत पहले ही इस शब्द का मूल भाव संदिग्ध था :

पर्जन्य → पर्तन्य → पर्जन्य

पर्जन्यस्तृपेराद्यन्तविपरीतस्य तर्पयिता जन्यः ।

परो जेता वा, जनयिता वा, प्रार्जयिता वा रसानामिति ।

—निरुक्तः १० ११०

जो हो, इतना तो निश्चित ही है कि भारोपीय काल में भी तडित् तथा इंशावात् के एक देवता का किसी न किसी नाम तथा रूप में अस्तित्व अवश्य था और इसका व्यक्तित्व आकाशदेव द्येउस् से पूर्णतः पृथक् था। मैकडॉनल ने इस संभवता को पूर्णतः स्वीकार करते हुए लिखा है कि संभवतः इस देवता को अत्यन्त विशालकाय, अत्यधिक भक्षण तथा पान करने वाला और तडित् रूपी शस्त्र से राक्षसों का वध करने वाला

-
१. ई० लीडेन : आर्मीनिशे स्टूडियन, पृ० ८८।
 २. कीथ : रिलीजन०, प्रथम भाग पृ० १४१..... The identificationis open to the gravest difficulties of phonology and must be considered as too doubtful to be worth more than serious consideration.
 ३. मैकडॉनल : वै० मा० पृ० ८४
 ४. ब्लूमफील्ड : रिलीजन ऑफ् दि वेद : पृ० १११।

Veda *Avestan*
समझा जाता था'। *वैदिक वृत्रहन्* [इन्द्र] अवेरतन- वैरेष्ट्रेन तथा आर्मनियम-वेहेन आदि शब्दों की तुलना से भी यह बात सिद्ध होती है। वैदिक रुद्र, इन्द्र तथा पर्जन्य इसी भारोपीय तडित् देव के विभिन्न विकास माने गए हैं। [तु० की०, श० व्रा० 'स्तनयित्वुरेवेन्द्रः']

केवल भारत में ही आकाश एवं तडित् के ये देवता अपना-अपना व्यक्तित्व पृथक रखने में समर्थ हो सके हैं। ग्रीक देवशास्त्र में ज्येऽस् इस देवता की विशेषताओं को आत्मसात् करके शक्तिशाली बन बैठे हैं। उन्हें प्रायः हाथ में तडित् या वज्र लिए हुए वर्णित किया गया है और उनके 'नेफेलेगेरितस्' [विद्युत के प्रकाश से प्रसन्न होने वाले] आदि विशेषण इस विषय में कोई सन्देह नहीं रहने देते।

लिथुआनियन पैर्कुनस के विषय में यह तथ्य पूर्णतः विपरीत है। उसने स्वयं प्राचीन आकाशदेव की विशेषताएँ आत्मसात् कर ली हैं और वह लिथुआनियन देवमण्डल का सर्वाधिक सशक्त देवता बन बैठा है।^१

वैदिक पर्जन्य के स्वरूप में कहीं-कहीं आकाशदेव का भी प्रभाव परिलक्षित हो जाता है। उदाहरणार्थ ऋ० वे० ५ ८३।६ में उसे 'असुर' कहा गया है [अपो निषिञ्चन् असुरः पिता नः], जो मुख्यतः वरुण अथवा द्यौस् का विशेषण है।

सूर्य, चन्द्रमा तथा उषस्

(क) रात्रि के अन्धकार तथा अज्ञान को विदीर्ण करता हुआ, प्राणियों को नवचेतना, जागृति तथा स्फूर्ति का सन्देश देकर उन्हें विभिन्न कर्मों में प्रवृत्त करता हुआ, उदीयमान सूर्य का दृश्य किसके लिए स्वागत पात्र नहीं होता? अतः यह असम्भव था कि सूर्य की उपासना का विचार किसी भी जागृत जाति के हृदय में उद्भुद्ध न हो। आर्यों में ही नहीं अनेक आर्यों जातियों के धर्मों में भी सूर्य की उपासना एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है। अन्तर केवल इतना है कि अन्य जातियों में सूर्योपासना जहाँ अनेक प्रकार के यातविक कृत्यों से परिपूर्ण है, वहाँ आर्य जातियों में इसका लगभग पूर्ण अभाव है।

आर्यजातियों में सूर्य को सूचित करने वाले शब्दों के सम्बन्ध में निम्नलिखित समीकरण प्राप्त होता है—

संस्कृत — स्वर (सुवर् तथा सूर्य), अवेस्ता — ह्वर् / ख्वर् ग्रीक — हेलियोस्, लैटिन — सोल्, गांधिक — सोयल, वेल्श — ह्यूल् प्रा० प्रशियन — साउले, लिथुआनियन — साउले, स्लेव० सांल्जे।

१. वै० मा०, पृ० ६६।

२. ब्लूमफील्ड: रि० वे०, पृ० ११२।

Veda ऋग्वेद में सूर्य को प्रत्यक्षतः सूचित करने वाले देवता का नाम सूर्य ही है। किन्तु वैदिक देवमण्डल में उनका स्थान अपेक्षाकृत गौण है। उनकी अपेक्षा विष्णु, विवस्वान्, सविता आदि अन्य सौर देवता मन्त्रों की संख्या एवं स्वरूप की दृष्टि से अधिक उत्कृष्ट हैं। सूर्य का एक सामान्य विशेषण आदित्य (अदिति का पुत्र) है, जो परवर्ती साहित्य में उनकी व्यक्तिवाचक संज्ञा बन गया है।

श्रावर का मत है कि रोमन देवमण्डल में मूलतः सोल् (सूर्य) तथा लूना (चन्द्रमा) का अभाव था। पुरोहितों को प्राचीन नियमपुस्तकों (रेगुलेशन्स) में तथा उन पुस्तकों में, जिनमें विभिन्न देवों को दी जाने वाली बलि आदि का उल्लेख किया गया है (Calendar of Feasts) इन देवों का कोई विवरण प्राप्त नहीं होता। अतः प्रतीत होता है कि ये देवता बाद में रोमन देवमण्डल में प्रविष्ट हुए^१। किन्तु परम्परा श्रावर के मत को सही सिद्ध नहीं करती। इन पुस्तकों में कुछ ऐसे देवों का उल्लेख नहीं है, जिसकी रोमन देवमण्डल में पूजा के विषय में अन्यत्र निश्चित एवं अभान्त प्रमाण प्राप्त होते हैं। लिथुआनियन धर्म में केवल साउले (सूर्य) एवं मेनू (चन्द्रमा) ही नहीं अपितु 'ओस्वरा' (उपस) तथा 'ओस्त्रीने' और 'वकरीने' (क्रमशः भूर एवं साँझ का तारा) भी एक अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। प्राचीन जर्मन जाति के धर्म में भी सूर्य एवं चन्द्रमा की पूजा के अनेक प्रमाण पाए जाते हैं। याकोब ग्रिम ने लिखा है कि "इस विषय में कोई सन्देह नहीं है कि हम लोगों के प्राचीनतम धार्मिक इतिहास में, अनेक आकाशीय वस्तुओं की — विशेषतः सूर्य एवं चन्द्रमा की — पर्याप्त उपासना होती थी^२।"

Hesiod सुप्रसिद्ध ग्रीक इतिहास लेखक हेरोदोतस् (११३१) वसेनोफोन (८। ३। १२) तथा युर्नियस (३। ३। ७) ने लिखा है कि है कि प्राचीन ईरानियन सूर्य की पूजा करते थे। इनका ह्वर ख्वर नाम से आहान किया जाता था। इनके लिए प्रायः प्रयुक्त होने वाला और्वतस्य (शीघ्रामी अश्वों से युक्त) विशेषण सूचित करता है कि वे सूर्य की तीव्रगमी अश्वों द्वारा खींचे जाते हुए रथ में आकाश की परिक्रमा करने की कल्पना करते थे। ऋग्वेद में भी प्रायः सूर्य को सात घोड़ों के रथ पर आरूढ़ होकर आकाश में विचरण करते हुए वर्णित किया गया है (इसलिए परवर्ती साहित्य में उनके लिए सप्तसप्तिः विशेषण प्राप्त होता है) ठीक इसी प्रकार ग्रीक देवशास्त्र में भी सूर्य (=अपोलो) के रथ को पक्ष-युक्त अश्वों द्वारा खींचा जाता हुआ बताया गया है।

Greek कहा जा चुका है कि ऋग्वेद में सूर्य को प्रायः आकाशदेव वरुण का तेज बताया गया है। सूर्य की आकाश से सम्बन्धित देवता के नेत्र के रूप में परिकल्पना ग्रीक, जर्मन तथा ईरानियन देवशास्त्रों में भी प्राप्त होती है।

१. श्रावर — ए० रि० ई०, द्वितीय भाग, आ० रि०, पृ० ३७ अ।
२. ग्रिम, ट्यूटानिक माईथॉलजी ('दौड़े मिथोलोगी' का अंग्रेजी अनुवाद) भाग २, पृ० ७०४।

भारोपीय काल के उपास्य देवतत्त्व : सूर्य, चन्द्रमा तथा उषस्

(ख) चन्द्रमा की उपासना के बीज प्राचीन ग्रीक, रोमन, ईरानी, जर्मन तथा आंशिक रूप में भारतीय देवशास्त्र में भी पाए जाते हैं। चन्द्रमा के वाची शब्दों का समीकरण इस प्रकार है —

संस्कृत — मास् अवे० — माह, ग्रीक — मेने, गाथिक — मेना लिथ० — मेनु (लैटिन — लूना तथा आर्मीनियन — लूसिन)।

यद्यपि भारोपीय काल में चन्द्रमा का मानवीकरण एवं दैवीकरण सम्भव है किन्तु यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि वह सूर्य की भाँति उपास्य था या नहीं। ऋग्वेद में सूर्य के साथ द्वन्द्व समास में उसका कई स्थानों पर उल्लेख हुआ है। (सूर्यामासौ या सूर्यचन्द्रमसौ) किन्तु ऋग्वेद में वह अत्यन्त सामान्य स्थान का भागी है। ग्रीक-देवशास्त्र में चन्द्रमा को तीन चक्रों वाले रथ में आकाश में भ्रमण करते हुए बताया गया है। भारत में भी यह धारणा प्राप्त होती है क्योंकि विष्णु पुराण में इसका उल्लेख किया गया है (रथस्त्रिचक्रः सोमस्य कुन्दाभास्तस्य वाजिनः, २।१२।१)

Vedas वैदिक साहित्य में चन्द्रमा, पादपों ओषधियों तथा विशेषतः सोमपलता से सम्बन्धित हैं। उसे ओषधियों का पति तथा राजा कहा गया है। ओषधियाँ रात्रि में चन्द्रमा की किरणों से रस ग्रहण करती हैं। सोमरस और चन्द्रमा का सम्बन्ध परवर्ती साहित्य में इतना अधिक घनिष्ठ हुआ कि ब्राह्मणों में ही इन्दु एवं सोम शब्द चन्द्रमा के वाची बन गए। विल्के ने इस सम्बन्ध की इस प्रकार से व्याख्या करने की चेष्टा की है कि शुक्लपक्षार्ध के चन्द्रमा की आकृति सोमपान करने के चपक की भाँति होती है। अतः धीरे-धीरे सोम एवं चन्द्रमा का सम्बन्ध स्थापित हो गया^१। किन्तु यह व्याख्या बहुत सन्तोषजनक नहीं है।

विभिन्न आर्य देवशास्त्रों में सूर्य एवं चन्द्रमा के पारस्परिक सम्बन्ध का अध्ययन करने से अनेक रोचक परिणाम प्राप्त होते हैं। आर्य जाति में सूर्य तथा चन्द्रमा की विभिन्न लिंगों में कल्पना बहुत प्राचीन है। जर्मन, एंग्लोसैक्सन तथा लिथुआनियन भाषाओं में सूर्य के वाची शब्द स्त्रीलिंग, में हैं और चन्द्रमा के पुलिंग में। किन्तु ग्रीक तथा लैटिन भाषाओं में इसका ठीक उल्लंघन है। यहाँ सूर्य के वाची सभी शब्द पुलिंग हैं और चन्द्रमा के वाची स्त्रीलिंग। दोनों की भाई और बहन या पति के रूप में प्रायः कल्पना की गई है। एक लैटिश गीत में कहा गया है कि एक बार चन्द्रमा (पुरुष) और

-
१. हिलेब्रांड्ट का यह मत कि ऋग्वेद के नवम मण्डल में सोमविषयक जितने भी सूक्त हैं, वे चन्द्रमा परक हैं और उनका सोमरस से कोई सम्बन्ध नहीं हैं, विद्वानों को सामान्यतः मान्य नहीं हैं (दे०, वेदिशे पिथोलोगी: प्रथम भाग, पृ० २७४, ३०९, ३२६, ३४०, ४६० आदि तथा द्वितीय भाग, २०९-४५)।
 २. विल्के: डी रिलीगियोनेन डेज इण्डोगेमानेन : पृ० १५२-५३।

सूर्य (स्त्री) ने परस्पर विवाह किया। पली प्रातःकाल शीघ्र उठ जाती थी किन्तु पति देर से। दोनों में खटपट हुई और पति (चन्द्रमा) भोर के तारे से प्रेम करने लगा। शक्तिशाली पैर्कुन इस व्यभिचरण से अत्यन्त अप्रसन्न हुआ, उसने पति पर खड़ग प्रहार किया, जिससे वह खण्डित हो गया^१।

एक अन्य मनोरंजक यूरोपीय लोक-कथा के अनुसार सूर्य आकाश की पुत्री है और चन्द्रमा पुत्र। पिता आकाश ने पहले पुत्र (चन्द्रमा) को दिन में तथा पुत्री (सूर्य) को रात्रि में प्रकाश करने के लिए नियुक्त किया था। किन्तु उस बालिका को रात्रि में भय लगता था। अतः उसने दोनों की स्थिति बदल दी। दूसरे दिन जब प्रातः काल आकाश की लावण्यमयी पुत्री पूर्व में उदित हुई तो पृथ्वी के लोग उसकी ओर एकटक देखने लगे। इससे वह लज्जा से आरक्ष हो गई और बाद में उसका मुखमण्डल श्वेत पड़ गया। अब कोई उसकी ओर देखने का साहस नहीं कर सकता।

यद्यपि संस्कृत में सूर्य एवं चन्द्र दोनों ही शब्द पुल्लिंग हैं किन्तु ऋग्वेद १०। ८५ में सोम (चन्द्रमा) एवं सूर्या के विवाह का विस्तार से उल्लेख मिलता है। यह सूर्या सूर्य के सबसे निर्बल रूप का मानवीकरण है। इसीलिए सायण आदि ने इसे उषा का वाची माना है। हो सकता है इसमें किसी ऐसी अत्यन्त प्राचीन भारतीय धारणा के बीज निहित हों, जिसके अनुसार सूर्य की एक स्त्री के रूप में भी परिकल्पना की जाती रही हो।

आर्य भाषाओं में चन्द्रमा के वाची लगभग सभी शब्द 'मा' धातु से निकले हैं। इस धातु का अर्थ है, 'नापना'। वैदिक भाषा में ही नहीं अपितु अन्य प्राचीन आर्य भाषाओं में भी यह क्रिया इसी अर्थ में प्राप्त होती है। इससे प्रतीत होता है कि प्राचीन समय में चन्द्रमा से ही समय की परिणामना होती थी और उसी के एक पूर्ण चक्र को 'मास' कहा जाता था।

(ग) उपा के वाची शब्दों में सम्बन्धित आर्य भाषाओं में निम्नलिखित समीकरण प्राप्त होता है—

संस्कृत—उषस् अवेस्ता—उशह् ग्रीक—एओस् लैटिन—औरोरा, लिथु० औस्त्रा।

ये सभी शब्द मूल भारोपीय धातु * ('एवेस') (सं० वस) से निकले हैं, जिसका अर्थ है प्रकाशित होना, या चमकना।

इस प्रकार यद्यपि आर्यभाषाओं में उषस् के वाची शब्दों में पर्याप्त समानता है किन्तु भारत को छोड़ कर अन्य देशों के विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि वहाँ भी

१. देखिए देशमुख : ओरिजिन ० पृ० १२६, गैकडॉनल : वै० मा० पृ० ८ श्राड़ : ए० रि० ई० २ आ० रि० पृ० १७, कीथ॒: रिलीजन ० १। पृ० ३८।

भारोपीय काल के उपास्य देवतात्व : अश्विनौ

Veda

Veda

उषा की एक देवी के रूप में मान्यता थी। उषा देवी की धारणा निसन्देह वैदिक धर्म को अपनी प्रसूति है और इसका भारोपीय काल से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं। द्यूटानिक (जर्मन) देवशास्त्र में अवश्य उषा का नाम 'औस्ट' नामक एक महत्वपूर्ण देवी के रूप में विकसित हुआ है किन्तु यहाँ प्रातःकाल की देवी वसन्त ऋतु की देवी बन गई है। सम्भवतः इसका कारण यह है कि देवी उपसूक्त की उपासना पहले वर्ष के प्रारम्भ में होती थी। भारत में भी नववर्षेष्टि के अवसर पर उषा का विशेष पूजन किया जाता था। अतः धीरे-धीरे दिन के प्रारम्भ को सूचित करने वाली उषा वर्ष के प्रारम्भ को भी सूचित करने लगी और वर्ष की प्रथम ऋतु की अधिष्ठात्री बन गई^१।

अश्विनौ

Veda
Grecell
Dioscuroi

अश्विनौ ही एक ऐसे भारोपीय देवता हैं, जिनका सामान्य आर्यकाल में अस्तित्व सिद्ध करने के लिए हमारे पास कोई भाषावैज्ञानिक प्रमाण नहीं है। किन्तु वैदिक 'अश्विनौ' ग्रीक 'दिओस्कौरौइ' तथा लैटिश 'ईश्वरपुत्रों' के स्वरूप में इतना घनिष्ठ साम्य है कि उन्हें हम केवल संयोग कह कर उपेक्षित नहीं कर सकते। तीनों देवयुग्मों का स्वरूप-साम्य यह मानने के लिए बाध्य करता है कि भारोपीय काल में अवश्य ही इस देवयुग्म का किसी न किसी रूप में अस्तित्व था किन्तु धीरे-धीरे विकास क्रम से उसने विभिन्न आर्य धर्मों में विभिन्न नाम तथा रूप धोरण किए।

इन देवों की प्राचीनता सिद्ध करने वाला सबसे बड़ा तथ्य यह है कि उनका नाम नासत्या (ना-स-अत-ति-या-अत्रा) एशिया माइनर [तुर्की] के बोगाज़क्यूर्ड नामक स्थान में मिले मुत्फलक पर प्राप्त होता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यह फलक लागभग १४वीं शताब्दी ३०पू० का है और सम्भवतः ईरानी काल से पूर्व का है। क्योंकि संस्कृत का दन्त्य स् प्राचीन फारसी में (अवेस्ता में भी) निरपवाद रूप से ह् में परिवर्तित हो जाता है। यहाँ नासत्या शब्द में 'स्' अपने मूल रूप में सुरक्षित है। इससे प्रतीत होता है कि उस समय तक यह वर्ण परिवर्तन नहीं हुआ था। अवेस्ता में 'नाओइहेष्या' नाम का राक्षस भी पाया जाता है, जो नासत्या का ही अपकृष्ट रूप है। अतः प्रतीत होता है कि नासत्या शब्द अवेस्ता की रचना तथा जर्थुस्त्र के धर्म के उदय से बहुत पहले का है।

वैदिक अश्विनौ को दो सुन्दर युवकों के रूप में चित्रित किया गया है। वे चतुर अश्वारोही हैं। कष्ट में पड़े हुए व्यक्तियों की रक्षा के लिए वे तत्क्षण जाते हैं। उषा उनकी बहन (तथा कहीं-कहीं पत्नी भी) हैं। उन्हें द्यौः के पुत्र (दिवो नपाता) भी कहा गया है।

१. हिलेब्रांड्ट: वैदिको मिथोलोगी, द्वितीय भाग, पृ० २६ त० आ० और श्राढ़, ए० रि० ३०, आ० रि० पृ० ३४ ब।

ठीक इसी प्रकार ग्रीक दिओस्कौरौइ की कल्पना दो सुन्दर तथा स्वस्थ नवयुवकों के रूप में की गई है। उनके नाम कास्तर तथा पाउलुक्स हैं। संकट के समय वे सुन्दर अश्वों पर चढ़ कर अपनी कृपापात्र सेना की सहायता करने आते हैं। वे ज्येष्ठस् के पुत्र हैं और हेलेन (उषा, हेलियोस् = सूर्य) उनकी बहन है। अश्विनौ की भाँति उनका भी कष्ट में पड़े मनुष्यों की रक्षा करने के लिए आह्वान किया जाता है। उनका एक विशेषण अनवतेस् भी है, जिसका अर्थ रक्षक होता है।

लैटिश “ईश्वर-पुत्रों” में भी अश्विनौ से समानता रखने वाली कुछ विशेषताएँ हैं। वे भी युगल देवता हैं और उन्हें भूरे रंग के अश्वों पर आरुढ़ चित्रित किया गया है^१। अश्विनौ की भाँति वे भी सूर्य की पुत्री से विवाह करते हैं और ईश्वर-पुत्रों के सूर्य की पुत्री से विवाह करने की कथा लैटिश लोक गीतों का प्रिय विषय है^२।

इस प्रकार इन युगल देवों की पारस्परिक समान विशेषताएँ सूचित करती हैं कि भारोपीय काल में उनकी कल्पना के बीज अवश्य वर्तमान थे, जो भारतीय ग्रीक, लेट्स तथा ईरानी (और सम्बवतः ट्यूटानिक) आदि जातियों में जाकर पल्लवित हुए^३।

मूल स्वरूप की इसी प्राचीनता के कारण इन देवों के मूल प्राकृतिक आधार का पता लगाना अत्यन्त कठिन है। विकास क्रम में उन्होंने अपने इतने अधिक नाम तथा रूप बदले हैं कि विद्वानों का यह विचार है कि स्वतः वैदिक ऋषि भी इस बात को नहीं जानते थे कि उनका मौलिक एवं वास्तविक स्वरूप क्या है^४।

ऋग्वेद के प्राचीनतम व्याख्याकार यास्क के सम्मुख ही वे एक समस्या थे। उसने उनके स्वरूप की चार वैकल्पिक व्याख्याएँ की हैं: पृथ्वी एवं आकाश, सूर्य तथा चन्द्रमा, दिवारात्रि तथा दो ऐतिहासिक पुण्यशाली राजा। ग्रीक दिओस्कौरौइ का मिथुन राशि के दो तारों से कुछ सम्बन्ध प्रतीत होता है। इसलिए कुछ विद्वान् ऐसा समझते हैं कि अश्विनौ का भी उद्म किन्हीं दो तारों से — विशेषतः भौर तथा साँझ के तारों (पूर्व एवं पश्चिम में क्रमशः उदित शुक्र ग्रह) से हुआ है^५।

१. ए० रि० ई०, १२ वाँ भाग, पृ० १०२ व।
२. वही, तथा देशमुखः ओरिजिन० पृ० ११५।
३. तु० की, ग्रिस्वोल्डः रिलीजन ऑफ् दि ऋग्वेदः पृ० २५५।
४. मैकडॉनलः वै० मा०, पृ० ५३।
५. ओल्डेनबर्गः डी रिलीगियोन-डेस वेदः पृ० २०७-१५
ब्लूमफील्डः रिलीजन आफ् दि वेद, पृ० ११३-१४।

माक्सम्युलरः ओरिजिन एण्ड ग्रोथ ऑफ् रिलीजनः पृ० २०५।

मैकडॉनल ने इसे अश्विनौ के स्वरूप की सबसे सन्तोषजनक व्याख्या माना है। वै० मा०, पृ० ५३, ५४।

अग्नि

संस्कृत — अग्निः, लैटिन — इग्निस्, लिथु० — उग्निस्, प्रा०स्लेव० ओग्नि ।

अग्नि के विषय में हमारे पास चार आर्य भाषाओं पर आधारित उपर्युक्त समीकरण हैं। किन्तु आग दैनिक जीवन की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण आवश्यकता है अतः यह शब्द-साम्य निश्चित रूप से यह सूचित नहीं करता कि भारोपीय काल में अग्नि को देवता माना ही जाता था। दैनिक आवश्यकता की वस्तुओं के वाची शब्दों में ऐसा साम्य प्रायः पाया ज्ञाता है।

प्राचीनकाल में देवों को यज्ञ आदि में उनका भाग प्रदान करने की सबसे सरल और सामान्य रीति उसे वेदी में प्रज्वलित अग्नि में डाल देना था। जिससे कि अग्नि धूम के रूप में आहुति को स्वर्गस्थ देवों तक ले जाए। देवों को अन्न आदि प्रदान करने की यही प्राचीनतम पद्धति थी क्योंकि प्राचीन रोमन, ग्रीक तथा भारतीय धर्मों में यह सम्पान रूप से पाई जाती है। इस प्रकार मनुष्यों के द्वारा दी गई वस्तु को देवों तक पहुँचाने के कारण, मर्त्यों और अमरों के बीच की शृंखला के रूप में अग्नि का बड़ा मान था। उसे श्रद्धा एवं आदर की दृष्टि से देखा जाता तथा अत्यन्त पवित्र माना जाता था। आर्यों के परस्पर विभाजन के उपरान्त अग्नि की उपासना अनेक मुख्य जातियों में विभिन्न रूपों में विकसित हुई और प्रायः प्रत्येक स्थान में इसे एक महत्वपूर्ण देवता का पद प्राप्त हो गया।

लिथुआनियन जाति में यह विशेष रूप से आदर तथा पूजा की पात्र थी। इसे 'उग्निस् स्जेवेन्ता' (पवित्र अग्नि) तथा 'स्जेवेन्ता पोनिके' (पवित्र स्वामिनी) कहा जाता था। पूरे वर्ष भर इसकी उपासना होती थी और इसको घरों में बनी हुई वेदियों में सदा प्रज्वलित रखा जाता था। वेदी से सम्बन्धित एक अन्य देवी भी लिथुआनियन धर्म में मानी जाती थी, जिसका नाम 'अस्पेलेने' था (पेलेन अग्नि की वेदी कहते हैं। अस्पेलेने का अर्थ है — वेदी के पीछे)।^१

इसी प्रकार रोम में भी वेदी की देवी 'वेस्ता' की एक विशेष प्रकार के गोल मन्दिरों में धूमधाम से पूजा होती थी। ये मन्दिर विशेष रूप से इसी अग्नि की देवी के लिए बनाए जाते थे। मन्दिरों में इसकी पूजा करने के लिए एक पुजारिन नियुक्त की जाती थी, जो आजीवन अविवाहित रहती थी। रोम के अनेक सम्प्रान्त व्यक्ति इसके लिए अपनी कन्याओं को वेस्ता देवी की भेंट कर दैते थे। यदि मन्दिर में स्थापित की गई अग्नि बुझ जाती थी तो उसे दो लकड़ियों की सहायता से ठीक उसी भाँति प्रज्वलित किया जाता था जैसे भारत में।

१. श्रावर — वही पृ० ३४।

ग्रीक अग्नि देवी 'हेस्तिया' रोमन वेस्ता का ठीक प्रतिरूप है। वह भी घर की वेदी में स्थित अग्नि की अधिष्ठात्री है। उसकी कल्पना एक ऐसी कुमारी देवी के रूप में की गई है, जो प्रत्येक गार्हस्थिक कर्म पर स्वामित्व रखती है। ग्रीस के बड़े-बड़े नगरों में नागरिकों के जमा होने के एक मण्डप के नीचे, जिसे 'प्रितानियुम्' कहते थे, पवित्र अग्नि सदा प्रज्वलित रखी जाती थी। इधर-उधर के ग्रामों या नगरों से आने वाले यात्री ऐसे प्रितानियुम् से अपने अपने नगरों के लिए इस पवित्र अग्नि को ले आते थे।

ग्रीक एवं रोमन अग्निदेवियों के घनिष्ठ साम्य के कारण प्रायः विद्वानों का यह विचार है कि रोम ने अग्निपूजा ग्रीस से ली थी किन्तु श्रावण आदि कुछ विद्वान् रोम में अग्निपूजा के इतिहास को ग्रीक अग्न्युपासना से अधिक प्राचीन मानने के पक्ष में हैं^१।

हेरोदोतस् ने अपने इतिहास में लिखा है कि सीथियन (Scythian) जाति में भी 'इस्तिया' नामक अग्नि देवी की पूजा होती थी और इनका उनके देवमण्डल में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान था।

वेदी में प्रज्वलित अग्नि से सम्बन्धित इन देवियों के नाम का मूल भारोपीय काल में भी ढूँढ़ा जा सकता है। संस्कृत के तपांस् (ताप) तपति, अवेस्ता के तप्, स्काइथियन के तविति (उष्णता या उष्ण करने वाला), तथां लैटिन के तेपेस्को आदि शब्द सम्बन्धित हैं।

पारसी या जरथुस्त्र धर्म में अग्नि देव 'अतर' का महत्व किसी से छिपा नहीं है। अग्नि की पूजा पारसी कर्मकाण्ड की इतनी महत्वपूर्ण वस्तु है कि उसके बिना पारसी धर्म के वर्तमान स्वरूप की कल्पना नहीं की जा सकती। अग्नि पृथ्वी पर अहुरमज्ञा की शक्ति एवं तेज का सर्वोत्कृष्ट प्रतीक है और उसे मुख की अशुद्ध वायु से फूँकना भायंकर पाप है। प्राचीन ईरान में भी ग्रीस एवं रोम की भाँति मन्दिरों में एक ऊँची वेदी पर प्रस्थापित अग्नि की अत्यन्त समारांभ के साथ पूजा की जाती थी।

किन्तु अग्नि के भौतिक तत्व से उत्पन्न होने वाले देवों में निश्चित रूप से महत्व की दृष्टि से वैदिक 'अग्नि' का स्थान सर्वोच्च है। ऋग्वेद से सर्वप्रथम् मन्त्र में ही उनकी स्तुति की गई है और उन्हें 'यज्ञ का तेजस्वी पुरोहित' बताया गया है। पृथ्वीस्थानीय देवों में अग्नि को सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है और ऋग्वेद के लगभग १००० सूक्तों में उनके लिए प्रायः २०० सूक्त कहे गए हैं। यज्ञ एवं कर्मकाण्ड के महत्व के साथ साथ वैदिक युग में अग्नि का भी महत्व बढ़ा है और ऋषियों की दृष्टि उनके भौतिक रूप से उठकर अन्तरिक्ष एवं आकाश के रूप (विद्युत् तथा सूर्य) तक भी पहुँची है।

१. श्रावण : ए० रि० ई०, खण्ड २, पृष्ठ ३५ तथा आगे "आर्यन् स्त्रीजन"

यहाँ यह स्मरणीय है कि ग्रीक, रोमन, लिथुआनियन तथा स्काइथियन धर्मों में अग्नि की एक देवी के रूप में धारणा प्राप्त होती है किन्तु ईरानियन तथा भारतीयों ने उसकी एक देवता के रूप में कल्पना की है। लिंगों का यह भेद सूचित करता है कि इन दोनों धारणाओं में पर्याप्त अन्तर है और भारोपीय काल में सम्भवतः अग्नि की केवल एक भौतिक तत्त्व के रूप में ही उपासना होती थी। उस का देवता या देवी के रूप में मानवीकरण नहीं हुआ था^१। यही कारण है कि आर्यों की पश्चिमी तथा पूर्वी शाखा में अग्नि की दैवी शक्ति के रूप में उपासना विभिन्न प्रकार से विकसित हुई।

वर्षा ऋतु में मेघों के बीच में चमकती हुई विद्युत् का वृक्षों आदि पर गिर उन्हें प्रज्वलित कर देने का दृश्य अत्यन्त सामान्य है। इस प्राकृतिक दृश्य की विभिन्न आर्य जातियों में अनेक प्रकार से कथा के रूप में व्याख्या की गई है। ग्रीक देवशास्त्र में कहा गया है कि मनुष्यों का आदि-जनक प्रोमेथेउस (Prometheus) मनुष्यों के लिए आकाश से यह उपहार चुरा कर लाया था। पृथ्वी पर उसने इसे नष्ट होने से बचने के लिए खोखले सरकणों या बाँसों के बीच में रख दिया। इसीलिए घर्षण से इनसे आज भी अग्नि उत्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार वैदिक देवशास्त्र में मातरिश्वा आकाश से इस गुप्त अग्नि को पृथ्वी पर लाता है (ऋ० वे० १ १९३ १६, ३ १२ १३)। संस्कृत के प्रमन्थ (मन्थनदण्ड) तथा माठव (श० द्वा० में एक पुरोहित का नाम, जिसने अग्नि की पूजा को भारत के पूर्वी भाग में फैलाया) शब्द इस ग्रीक प्रोमेथेउस से प्रायः सम्बन्धित किए जाते हैं। पर साम्य इतना अपूर्ण तथा अस्पष्ट है कि इससे कोई परिणाम नहीं निकाला जा सकता। किन्तु इतना अवश्य है कि कई आर्य जातियों में सामान रूप से पाई जाने वाली अग्नि के अपहरण की कथा बीजरूप में सम्भवतः भारोपीय काल में भी उपस्थित रही होगी^२।

वायु तथा जल देवता

यह पूर्णतः निश्चित है कि प्रकृति के वायु एवं जल (आपस्) तत्त्वों का देवों के रूप में पूर्ण विकास वैदिक युग में आकर ही हुआ है। भारोपीय काल में इनके व्यक्तित्व की धारणा अवश्य अत्यन्त क्षीण तथा अस्पष्ट रही होगी क्योंकि केवल लिथुआनियन धर्म में वायु के एक देवता 'वेजो-पतिस्' का उल्लेख मिलता है। इसका अर्थ है 'वायु का स्वामी'। वेजिस् या वेजस् शब्द लिथो-प्रशियन भाषाओं में हवा के वाची हैं और इनका वैदिक (तथा लौकिक) 'वायु' शब्द से सम्बन्ध है। श्रावर का मत है कि लिथुआनियन देवशास्त्र में वेजो-पतिस् अवश्य ही अत्यन्त प्राचीन देवता है क्योंकि

१. कीथ : रिलीजन०, प्रथम भाग, पृ० ३८।

२. कीथ : रिलीजन०, भाग १, पृ० ३८।

इसी, तथा केवल एक अन्य शब्द (वीस्जपतिस्, सं० विश्पतिः 'मनुष्यों का स्वामी' अर्थात् ईश्वर) में प्राचीन आर्य शब्द पति (स्वामी) का भाव सुरक्षित है जबकि अन्यत्र वह लुप्त हो गया है।

संस्कृत के 'वात' शब्द की लैटिन 'वेन्टुस', गाथिक 'विन्ड' तथा द्यूटानिक 'वोडन' शब्दों से तुलना की जाती है किन्तु भाषावैज्ञानिक नियमों से लैटिन आदि में प्राप्त शब्दों के अनुस्वार की सन्तोषजनक व्याख्या न हो पा सकने के कारण इस समीकरण को विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता^१।

प्र० उ० शनाइडर आदि कुछ विद्वानों ने ग्रीक पान् (Pan<Paon), रोमन फ़ाउनुस् तथा वैदिक पूषन् में भी परस्पर घनिष्ठ साम्य दिखा कर इनकी एकरूपता सिद्ध करने की चेष्टा की है। वैदिक पूषन् की भाँति ग्रीक पान् भी वन का, वन्य पशुओं का, चरवाहों का और चरागाहों का देवता है। पूषन् का बकरों से विशेष सम्बन्ध है और पान् के पैर खुर सहित बकरों के पैर हैं। 'पान्' और 'पूषन्' दोनों का नारियों से सम्बन्ध भी साम्य का एक विन्दु है। (द० आगे, पृ २००-२०३)

दोनों की इन सामान्य विशेषताओं का अध्ययन होना अभी शेष है।

जल के देवत्व के चिह्न भी अनेक प्राचीन आर्य जातियों में पाए जाते हैं। ग्रीक इतिहास लेखक हेरोदोतस् (१। १३८) तथा अगाथियास् (२८। ४) ने अपने अपने इतिहासों में क्रमशः ईरानी तथा ट्यूटन जाति के विषय में इसका स्पष्ट उल्लेख किया है। ग्रीक भाषा में नदियों को 'दियापेताइस्' या आकाश से उत्पन्न कहा जाता है। रोमन देवमण्डल में जल तथा समुद्र के देवता का नाम नेप्तून है। अवेस्ता में नप्त शब्द आर्द्रता का द्योतक है और नप्स् शब्द निर्झर के लिए प्रयुक्त होता है। इन सब में अप् मूल खोजा जा सकता है, जो वैदिक भाषा में जल का नाम है। ऋग्वेद में अप् का बहुवचन आपस् (स्त्री०) देवियों के रूप में अभिहित हुआ है। ये 'आपोदेवीः' आकाश से बरसने वाला जल है, पृथ्वी सम्बन्धी नहीं। जलों की देवी के रूप में यह धारणा पूर्णतः भारतीय है। भारोपीय काल में सम्भवतः जल एवं वायु दोनों की धारणाएँ इंशावात या तडित् के देवता (पर्जन्य) के साथ मिली हुई थीं।

: ४ :

ऊपर कुछ ऐसे भारोपीय देवों का संक्षिप्त परिचय देने का प्रयत्न किया गया है जिनके अस्तित्व के विषय में निश्चित भाषावैज्ञानिक अथवा तुलानात्मक देवशास्त्रीय प्रमाण

१. श्रावर : ए० रि० ई०, आ०-रि०, ३५ अ (पाद टिप्पणी)

२. इस प्रसंग में प्र० पाउल थीमे का ASIATICA (Festschrift Prof. F. Weller, लाइप्सिप् १९५४, पृ० ६५६-६६६) में प्रकाशित Die Wurzel 'Val' नामक लेख भी द्रष्टव्य है।